આ. શ્રી વિજય ભક્તિ પ્રેમસુબોધ
સૂરીશ્વરજી જૈન જ્ઞાન મંદિર

પુસ્તકનુ નામ :- किरातार्जुनीयम्
કર્તા :- [illegible]
લેખક वीरेन्द्रकुमार वर्मा

महाकविभारविविरचितम्

किरातार्जुनीयम्

[प्रथमः सर्गः]

*

व्याख्याकार

डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा

एम० ए०, पी०-एच० डी०, वेदाचार्य

प्रोफेसर, संस्कृत-पालि-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

[१९७८]

प्रकाशक :—
जमुना पाठक
सुंदरपुर, वाराणसी ।

मूल्य : ४.००

मुद्रक :—
बसन्तू राम
श्री विंध्या प्रेस, छित्तूपुर, वाराणसी

भूमिका

भारवि का जीवन-वृत्त—संस्कृत कवियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने निजी जीवन के विषय में नहीं लिखा। भारवि भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके जीवन के विषय मे हम उनके एकमात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीय से कुछ नहीं जान सकते। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने माता-पिता, आचार्य, आश्रयदाता, निवासस्थान इत्यादि के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में आनन्दपुर नामक स्थान है। वहाँ पर कौशिक वंश के ब्राह्मण निवास करते थे। बाद में इन लोगों ने नासिक्य देश में स्थित अचलपुर में निवास किया। इसी वंश में नारायणस्वामी से दामोदर की उत्पत्ति हुई। यही दामोदर बाद में भारवि नाम से प्रसिद्ध हुए। चालुक्य वंश के राजा विष्णुवर्धन से भारवि की मित्रता थी। बाद में इनकी मित्रता राजा दुर्विनीत से हो गई। तत्पश्चात् इन्हें पल्लवराज विष्णु का आश्रय प्राप्त हुआ। भारवि के तीन पुत्र थे। इनके मध्यम पुत्र—मनोरथ के चार पुत्र थे। इनमें एक वीरदत्त था, जिसका विवाह गौरी नामक कन्या के साथ हुआ। इन्हीं वीरदत्त और गौरी के पुत्र महाकवि दण्डी हुए। कहा जाता है कि दण्डी के वंशज अब हरिद्वार, वाराणसी और ग्वालियर में बसे हुए हैं। वाराणसी में ब्रह्मघाट पर एक विशाल भवन (दाण्डे भवन) है, जिसमें दण्डी के वंशज रहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारवि दण्डी के प्रपितामह थे।

किरातार्जुनीय में शिव की प्रशंसा अनेक स्थानों में की गई है। विष्णु का उल्लेख बहुत कम हुआ है। १८वें सर्ग के अन्त की ओर शिव के प्रति अर्जुन की प्रार्थना जिस तत्परता से वर्णित है उससे ज्ञात होता है कि कवि अपने इष्ट देव के प्रति अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि भारवि परम शैव थे, जब कि माघ वैष्णव थे।

भारवि का समय—अन्य कवियों की ही भाँति भारवि के समय का नि॰ करना कठिन है। तथापि—

१—दक्षिण के ऐहोल शिलालेख में कालिदास और भारवि का नामोल्ले हुआ है। इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है।

२—गुमरेड्डीपुर के शिलालेख से हमें पता चलता है कि राजा दुर्विनीत किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी। नवीनतम अन्वेषणों दुर्विनीत का राज्यकाल ५८० ई० के लगभग ठहरता है।

३—भारवि के किरातार्जुनीय का उद्धरण जयादित्य की 'काशिकावृत्ति' उपलब्ध होता है। मैक्समूलर 'काशिका' का समय ६६० ई० मानते हैं 'काशिका' से बहुत पहले ही किरातार्जुनीय इतना प्रसिद्ध हो गया होगा कि उस उद्धरण दिया गया।

४—सप्तमी शताब्दी में होने वाले बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में अपने पूर्व के प्रायः समस्त कवियों का उल्लेख किया है, किन्तु भारवि का नामोल्ले॰ नहीं हुआ है। कीथ महोदय के अनुसार बाणभट्ट ने भारवि का उल्लेख इसलि नहीं किया कि उनके समय तक भारवि ने इतनी ख्याति प्राप्त नहीं की थी। इनका उल्लेख हो सके। कीथ महोदय ने भारवि का समय ५५० ई० माना है

५—जैकोबी, मैक्डोनल, बलदेव उपाध्याय, चन्द्रशेखर पाण्डेय इत्यादि अने विद्वानों ने भारवि का समय ६०० ई० के लगभग माना है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने भारवि का समय भिन्न-भिन्न माना है इन सब विचारों से यही निर्णय होता है कि भारवि का समय ५५० ई० से ६० ई० तक माना जा सकता है।

भारवि का एकमात्र ग्रन्थ—किरातार्जुनीय

किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें १८ सर्ग हैं तथा इसमें अस्त्र-प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाले अर्जुन और किराताधिपति ॰

रूप में शिव जी के परस्पर युद्ध का वर्णन है। इन दोनों के इस युद्ध के मुख्य होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम किरातार्जुनीय पड़ा है। किरातश्च अर्जुनश्च किरातार्जुनौ (द्वन्द्वः), किरातार्जुनौ अधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयम्। शिशुक्रन्द...' सूत्र से छ प्रत्यय हुआ—किरातार्जुन + छ। 'आयनेयी...' सूत्र से छ को ईय् आदेश होकर 'किरातार्जुनीय' शब्द की निष्पत्ति हुई।

किरातार्जुनीय का कथानक इस प्रकार है। द्यूत क्रीड़ा मे हार जाने पर पाण्डव अपनी पत्नी के साथ द्वैतवन में निवास करते हैं। युधिष्ठिर एक वनेचर को दुर्योधन के शासन का समाचार लाने के लिए भेजते हैं। वनेचर पूरी जानकारी करके आता है और युधिष्ठिर को दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन का समाचार देता है। द्रौपदी कटु शब्दों में युधिष्ठिर के कायरपन की निन्दा करती है तथा युद्ध के लिए उत्तेजित करती है। भीम द्रौपदी की बातों का समर्थन करते है किन्तु धर्मराज प्रतिज्ञा तोड़कर युद्ध करने की बात को स्वीकार नहीं करते। इसी समय भगवान् वेदव्यास जी वहाँ आ जाते हैं। वे अर्जुन को दिव्यास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर इन्द्र की तपस्या करने के लिए भेजते हैं। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर कठिन तपस्या करने जाते हैं। इन्द्र अर्जुन की तपस्या भङ्ग करने के हेतु अप्सराओं को भेजते हैं, परन्तु अर्जुन अपने व्रत से विचलित नहीं होते। अर्जुन की तपस्या को देखने के लिए मानुष वेशधारी इन्द्र स्वयं आते हैं तथा शिव की तपस्या का उपदेश देते हैं। अर्जुन पुनः कठोर तपस्या करते हैं। मूक दानव अर्जुन को मारने के लिए मायावी वराह रूप को धारण करता है। शिव जी अर्जुन की तपस्या की परीक्षा के हेतु किरात का वेश धारण कर लेते हैं। किरात और अर्जुन दोनों वराह पर एक ही साथ बाण छोड़ते हैं। शिव जी का बाण वराह को समाप्त कर पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरे बाण के लिए वादविवाद होता है जो युद्ध के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कभी अर्जुन की विजय होती है तो कभी किरात की। बाद में दोनों में बाहुयुद्ध होता है। अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर शिव जी अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं और अर्जुन को अपना पाशुपत अस्त्र देकर उसकी अभिलाषा को पूरी करते हैं।

किरातार्जुनीय—एक सफल महाकाव्य

संस्कृत के आलंकारिकों ने महाकाव्य के लक्षणों की एक पूर्ण सूची प्रस्तुत की है। ये लक्षण दो भागों में विभक्त हो सकते है—मुख्य तथा गौण।

मुख्य लक्षण—मुख्य लक्षण काव्य के तीन आवश्यक अंशों की विचारधारा पर आधृत हैं। ये आवश्यक अंश हैं—वस्तु, नेता और रस। महाकाव्य की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक होना चाहिए, काल्पनिक नहीं अथवा लोक-प्रसिद्ध किसी महापुरुष के जीवन-चरित का वर्णन होना चाहिए। इसमें कोई देवता या कुलीन क्षत्रिय जिसमें धीरोदात्तता आदि गुण हों नायक होता हैं। कहीं एक वंश के अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर तथा शान्त में से कोई एक रस प्रधान होता है। अन्य रस गौण होते हैं।

गौण लक्षण—गौण लक्षण जो नियम-निर्वाह के लिए हैं तथा टेक्निक से सम्बन्ध रखते हैं संख्या में अनेक हैं। उनके अनुसार (१) आरम्भ में आशीर्वाद नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है (२) अध्याय अथवा परिच्छेद 'सर्ग' नाम से अभिहित होने चाहिए (३) इसमें न बहुत छोटे और न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते है (४) उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द मिलता है परन्तु अन्तिम दो या तीन पद्य भिन्न छन्द या छन्दों में रचे जाने चाहिए; कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं (५) सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए (६) इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, समुद्र, संभोग वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह इत्यादि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए (७) कथावस्तु का विकास स्वाभाविक होना चाहिए और कथावस्तु की पाँच संधियाँ भलीभाँति क्रम में रहनी चाहिए।

महाकाव्य के ये लक्षण किरातार्जुनीय में देखे जा सकते हैं। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। वर्ण्य विषय है—इन्द्रकील पर अर्जुन की तपस्या किरात वेशधारी शिव जी के साथ उनका युद्ध तथा शिव जी से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति। महाकाव्य के नायक हैं अर्जुन—एक धीरोदात्त क्षत्रिय जो नर के अवतार हैं। इसमें वीर-रस मुख्य है। अन्य शृंगारादि रस गौण हैं। इसमें १८ सर्ग हैं

तथा ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, नदी, जल–क्रीड़ा आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है। पूरे चतुर्थ सर्ग में शरद्वर्णन है ! पाँचवें में हिमालय–वर्णन है तथा सप्तम, अष्टम, नवम और दशम सर्ग अप्सरा–विहार तथा अर्जुन की तपस्या–भङ्ग की चेष्टाओं से भरे पड़े हैं। महाकाव्य के अन्य भी सभी लक्षण इसमें स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

महाकवि भारवि और उनके काव्य की समीक्षा

कवियों में भारवि का स्थान—महाकाव्यकारों में कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि का नाम लिया जाता है। संभवतः कालिदास से उतरकर उन्हीं का स्थान है। ऐहोल शिलालेख ६३४ ई० के "कवितािश्रत-कालिदास-भारवि कीर्तिः" में कीर्तिशाली कवियों में दो के नाम साथ-साथ लिए गये हैं। एक कालिदास का और दूसरा भारवि का। इससे ज्ञात होता है कि आज से १३४४ वर्ष पूव भी भारवि को संस्कृत का मूर्धन्य कवि माना जाता था।

महाकवि भारवि निःसन्देह एक उच्चकोटि के कवि हैं। भारवि की कीर्ति उनके एक मात्र महाकाव्य—किरातार्जुनीय पर आधारित है। केवल एक ग्रन्थ के द्वारा भारवि ने संस्कृत कवियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। संस्कृत महाकाव्यों की 'बृहत्त्रयी' (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीय चरित) में किरातार्जुनीय का प्रमुख स्थान है। इस महाकाव्य में भारवि ने काव्य के सभी गुणों का सन्निवेश किया है। उदात्त एवं सजीव वर्णन, कमनीय कल्पनायें, अर्थ गौरव, हृदयग्राही शब्द-योजना, कोमलकान्त पदावली, हृदयस्पर्शी एवं रोचक संवाद, अलंकारों का चमत्कारात्मक प्रयोग, कलात्मक काव्य-शैली, मनोहर प्रकृति-चित्रण, रसपेशलता, सजीव चरित्र चित्रण इत्यादि महनीय गुणों ने भारवि को कवियों में अत्यन्त उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। भारवि ने व्याकरण, वेदान्त, न्याय, धर्म, राजनीति, कामशास्त्र पुराण, इतिहास आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अपनी निपुणता का प्रदर्शन किया है। अधोलिखित समीक्षा से भारवि के काव्य की सभी विशेषताओं का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जायेगा

तथा यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि संस्कृत के महाकवियों में कालिदास से उतर भारवि का ही स्थान है[१]।

भारवेरर्थगौरवम्—

एक जमाने से संस्कृत-साहित्यज्ञों के बीच यह प्रशस्ति श्लोक प्रचलित है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

इसे किसने लिखा, कब लिखा, निश्चित रूप से कहना कठिन है।

इस उक्ति का अर्थ यह है—कालिदास की श्रेष्ठता उपमा में, भारवि की अर्थ गौरव में, दण्डी की पदलालित्य में तथा माघ में ये तीनों गुण वर्तमान हैं। वस्तुतः प्रत्येक महाकवि में काव्यमण्डप के हर कोने को सजाने की स्वाभाविक प्रतिभा होती है और सच कहा जाय तो यही उसका महाकवित्व है। यह दूसरी बात है कि किसी एक कोने पर उसका विशिष्ट अधिकार-सा होता है और उसके अलंकरण में उसके महाकवित्व का सर्वाधिक चमत्कार परिलक्षित होता है। जैसे 'दीपशिखा' कालिदास को लीजिए। कौन कह सकता है कि उनके काव्य मे किसी अंग की कोर कसर रह गई है? किन्तु उपमांग को उन्होंने कुछ ऐसे ढंग से सजाया संवारा है कि बरबस मुख से निकल पड़ता है—उपमा तो कालिदास की। यही बात भारवि के साथ है। क्या उनमें उपमा या पदलालित्य का अभाव है? कभी नहीं। किन्तु 'गागर में सागर' भर देने की कुछ ऐसी शैली उन्होंने

---

[१] भारवि और माघ की तुलना के लिए मेरे द्वारा सम्पादित शिशुपालवध पृ० १५–१७ को देखिए। वहाँ सिद्ध किया गया है कि माघ के शिशुपालवध का आदर्श किरातार्जुनीय ही रहा है। माघ ने अपने महाकाव्य के द्वारा अपने पूर्ववर्ती भारवि को नीचा दिखाने में कुछ उठा नहीं रखा है और वे भारवि से अनेक बातों में बढ़ गए हैं किन्तु उनमें मौलिकता का अभाव है और उनका काव्य श्रमसिद्ध है।

अपनाई है कि हम सारी बातों को छोड़कर उनके 'अर्थगौरव' पर ही निछावर हो बैठते हैं।

अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना ही अर्थगौरव है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों में प्रकट कर दिया है। उन्होंने अपने काव्य में बड़ी कुशलता से गम्भीर अर्थ वाले पदों का प्रयोग किया है। उनका प्रत्येक पद अर्थगाम्भीर्य से समन्वित है और प्रत्येक पद साभिप्राय प्रयुक्त है। उनका एक-एक पद दीर्घ वाक्य के अर्थ को प्रगट करने वाला है। यही कारण है कि कृष्ण कवि ने भारवि की रचना को सन्मार्गदीपिका के सदृश कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥

यद्यपि भारवि कलावादी हैं तथापि उनकी कला माघ और श्रीहर्ष के समान अत्यधिक अलंकृत नहीं है। भारवि शब्दों के आडम्बर के फेर में सर्वदा नहीं पड़ते। उनका विशेष ध्यान अर्थ-गाम्भीर्य पर ही रहा है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भारवि की उक्तियों को नारिकेल-फल के सदृश कहा है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

भारवि के शब्द नारियल के समान है। जिस प्रकार नारियल का छिलका कड़ा होता है परन्तु तोड़ने पर भीतर मीठा फल मिलता है, उसी प्रकार भारवि के शब्द अल्प तथा कठिन हैं परन्तु प्रयत्न से समझने पर अर्थ गम्भीर और सुन्दर होता है। द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर जिन शब्दों में भीम के भाषण की प्रशंसा करते हैं, वे ही भारवि के कला-सम्बन्धी सिद्धान्त के निदर्शन हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

अर्थात् 'पद-प्रयोग में स्पष्टता हो, अर्थ-गौरव का ध्यान रहे, पदों में भिन्नार्थता हो तथा पद परस्पर साकांक्ष हों।' ये सभी गुण भारवि के महाकाव्य

में मिलते हैं, परन्तु यह मानना होगा कि भारवि का यही अर्थ-गौरव उनकी दुर्बलता भी है। इसी कारण उनका काव्य कुछ कठिन हो गया है। आरम्भ के तीन सर्ग विशेष कठिन हैं, इसलिए ये 'पाषाणत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तथापि उनका अर्थ-गाम्भीर्य उनके काव्य की एक प्रभाव डालने वाली विशेषता है जिसके कारण उनका काव्य पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होता है।

परिमित (अल्प) शब्दों के द्वारा अपरिमित अर्थ को प्रकाशित करने का जो गुण भारवि की मुख्य विशेषता है वह मुख्यतः उनकी सूक्तियों के कारण है। उनके काव्य में शाश्वत सत्य से ओत-प्रोत सूक्तियों का बाहुल्य है। महाकवि ने इन सूक्तियों में जीवनोपयोगी बातों, राजनीति-शास्त्र के गूढ़ रहस्यों, लोकव्यवहार के बहुमूल्य तथ्यों एवं जीवन के गम्भीर अनुभवों को प्रस्तुत किया है। अर्थ-गौरव से भरी हुई उनकी कुछ सूक्तियाँ ये हैं—"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः", "गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः", "विमलं कलुषीभवच्चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा", "किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलंघ्यम्", "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्", "सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः", "गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः" इत्यादि।*

---

*इस प्रसङ्ग में प्रथम सर्ग की सभी सूक्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः। २

२—हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। ४

३—सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः। ५

४—वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। ८

५—गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया। १२

६—अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता। २३

७—प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः। २५

८—व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। ३०

९—अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः। ३३

राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र और लोकव्यवहार का निरूपण—

भारवि राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं तथा उनका लोकव्यवहार का ज्ञान अत्यन्त समृद्ध है। अनेक राजाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और उन्होंने अनेक राजदरबारों को सुशोभित किया। किरातार्जुनीय में स्थल-स्थल पर उनके राजनीतिविषयक ज्ञान की झलक मिलती है। उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ राजनीति के दुरूह तत्त्वों का निरूपण काव्य के माध्यम से किया है। उनकी सूक्तियों में नीति तथा लोकव्यवहार के तथ्यों का सुन्दर निरूपण हुआ है।

किरातार्जुनीय का प्रारम्भ ही राजनैतिक तथ्यों से होता है। वनेचर की उक्तियों के माध्यम से राजनीति, नीति और लोकव्यवहार के अनेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। प्रत्येक श्लोक महाकवि की नीतिकुशलता और व्यवहार-कुशलता को प्रगट करता है। द्रौपदी की ओजस्वी उक्तियों में राजनीति और नीति के गम्भीर तत्त्वों का वर्णन हुआ है। द्वितीय सर्ग भी राजनैतिक तथ्यों से परिपूर्ण है। भीम अपने ओजस्वी भाषण के द्वारा युधिष्ठिर को दुर्योधन से युद्ध के लिए उकसाते हैं परन्तु महाराज युधिष्ठिर एक वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ की भाँति अपने भाई को समझाते हैं। वे सान्त्वना देते हैं, धैर्य की महिमा बखानते हैं। उनकी नीति है "प्रतीक्षा करो और देखो।"

> सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
> वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ २ । ३०

१०—अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः । ३४

११—विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः । ३७

१२—परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् । ४१

१३—शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः । ४२

१४—निराश्रया हन्त हता मनस्विता । ४३

१५—अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि । ४५

अर्थात्—विवेचना किए बिना किसी कार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिए। सम्यक् विचार न करना परम आपत्ति का उत्पादक होता है। गुण के ऊपर अपने-आप को समर्पित करने वाली सम्पत्तियाँ विचारवान् पुरुष को स्वयं मनोनीत करती हैं। (तात्पर्य यह है कि जो कुछ किया जाय उसके आगे पीछे की सब बातों का विचार कर लेना चाहिए)।

वह भूमिपाल जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है, यथा समय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता रहता है, वह सूर्य के समान समग्र संसार पर आधिपत्य स्थिर रखता है।

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥ २।३८

प्रकृति-चित्रण—महाकवि के प्रकृति-वर्णन भी चमत्कार-जनक हैं। हिमालय, गंधमादन और इन्द्रकील पर्वतों के अनेक वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली हैं। ऋतु, जलक्रीडा, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, रात्रि, प्रभात इत्यादि का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलता एवं सूक्ष्मता के साथ किया है। सभी में नवीनता एवं सजीवता है। भारवि का प्रकृति-वर्णन यद्यपि कालिदास के समान मनोरम एवं रमणीय नहीं है तथापि जितना भी वर्णन उन्होंने किया है वह प्रभावोत्पादक है। भारवि में वाल्मीकि और कालिदास जैसा प्रकृति के प्रति मोह नहीं है। उनमें कृत्रिमता है। प्रकृति-वर्णन करते समय भी वे चित्र-काव्य के मोह में पड़ जाते हैं। तथापि चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का उनका वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक है।

चरित्र-चित्रण एवं संवाद—पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी भारवि सफल हुए हैं। पात्रों के हृदयगत भावों के सम्यक् प्रकाशन के हेतु भारवि ने अपने काव्य में रोचक संवादों का सन्निवेश किया है। चरित्र-चित्रण की सफलता का श्रेय इन संवादों को ही है। पात्रों की विशिष्टताओं का प्रकाशन इन संवादों के माध्यम से ही हुआ है। वनेचर की स्वामिभक्ति, सत्यवादिता, निश्छलता, विनम्रता, साहस, स्पष्टवादिता; द्रौपदी की मानसिक पीड़ा, व्याकुलता, प्रतीकार

की तीव्र भावना; अर्जुन की वीरता, भ्रातृ-भक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा; भीम की वीरता, नीतिज्ञता, असहिष्णुता; युधिष्ठिर की नीतिज्ञता, शान्तिप्रियता, धर्मपरायणता इत्यादि का चित्रण इन संवादों के माध्यम से बहुत ही सुन्दर हुआ है। प्रथम सर्ग में ही वनेचर तथा द्रौपदी की उक्तियों का अध्ययन उपर्युक्त तथ्यों को स्पष्ट कर देता है।

भाषा—भाषा पर भारवि का पूर्ण अधिकार है। भाषा पर उनके अधिकार की पराकाष्ठा का दर्शन चित्रबन्ध में होता है। यद्यपि चित्रबन्धनिबन्धन को काव्य की दृष्टि से उत्तम नहीं कहा जा सकता है, तथापि इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भारवि माघ और श्रीहर्ष के समान दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं करते, और सम्पूर्ण ग्रन्थ की दृष्टि से उनका काव्य विशेष रूप से अस्पष्ट या दुर्बोध नहीं है। भाषा के विषय में भारवि का आदर्श यह है—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥ १४।३

अर्थात्—शुद्ध वर्ण ही जिसके आभूषण हों, जो श्रोत्रों को आनन्द देने वाली हो, जो शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न कर देने वाली हो और जो प्रसन्न तथा गम्भीर पदों से युक्त हो, पुण्यशाली व्यक्तियों की ही वाणी ऐसी हुआ करती है।

भारवि प्रसङ्गानुकूल पदावली का प्रयोग करने में निपुण हैं। उन्होंने श्रृंगार के चित्रण में कोमल और दीर्घ समास रहित पदावली का प्रयोग तथा युद्ध के चित्रण में ओजस्वी तथा कठिक पदावली का प्रयोग किया है। यद्यपि कालिदास की भाँति सुश्लिष्ट पदविन्यास से समन्वित एवं प्रसादमयी पदावली के दर्शन भारवि के काव्य में नहीं होते, तथापि अर्थगौरवमयी पदावली का इसमें बाहुल्य है।

भारवि ने व्याकरण सम्बन्धी अपनी निपुणता प्रदर्शित करने के अनुराग का बुरा उदाहरण प्रस्तुत किया है और यही प्रवृत्ति भट्टि, माघ तथा श्रीहर्ष में अत्यधिक हो चली है। भट्टि ने तो अपना महाकाव्य अपने व्याकरण-पाण्डित्य के

प्रदर्शन के लिए ही लिखा। भारवि ने तन् धातु का हास्यास्पद रूप में बार-बार प्रयोग किया है। लिट् लकार का कर्मवाच्य और भाववाच्य में प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय है। प्रयोग में कम आने वाले पाणिनि के अनेक सूत्रों का उदाहरण उन्होंने दिया है।

शैली—महाकाव्य को एक नई शैली (जिसे विचित्र मार्ग कहते हैं) प्रदान करने के कारण संस्कृत साहित्य में भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विचित्र मार्ग की एक विशेषता यह है कि इसमें कथानक बहुत कम होता है और वर्णन अधिक। भारवि के पूर्ववर्ती वाल्मीकि तथा कालिदास के महाकाव्यों का कथानक अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। कालिदास ने अपने रघुवंश के केवल १९ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है। दूसरी ओर भारवि ने अर्जुन के किरात के पास जाने और उससे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को १८ सर्गों में कह डाला है। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक अन्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग व्यय कर दिए हैं और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार दिया है। इसका प्रभाव भारवि के महाकाव्य के कथा-प्रवाह पर पड़ा है। कालिदास जैसा कथा-प्रवाह भारवि के काव्य में नहीं मिलता। यह तो ठीक है कि महाकाव्य की कथावस्तु धीरे-धीरे आगे बढ़ा करती है, पर यह इतनी धीमी गति से तो नहीं बढ़नी चाहिए कि पाठक ऊबने लगे। कालिदास के महाकाव्यों में भी वर्णनात्मक प्रसङ्ग हैं, उनकी कथा भी मन्द गति से ही आगे बढ़ती है परन्तु वे अपने वर्णनों को उस सीमा तक नहीं बढ़ाते कि पाठक ऊब जाय। इसके विपरीत भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि में यह बात नहीं है। उनकी कथा का प्रवाह कहीं-कहीं बिल्कुल ही रुक जाता है। किसी वर्ण्य वस्तु का वर्णन करते समय वे तब तक उसे नहीं छोड़ते जब तक उस विषय सम्बन्धी सारा खजाना समाप्त न हो जाय।

इस प्रकार भारवि ने अलंकृत काव्यशैली का सूत्रपात किया और काव्य-रचनापद्धति को एक नया मोड़ प्रदान किया है। इस शैली में पाण्डित्य-प्रदर्शन

और अलंकार–संनिवेश को प्रधानता दी गई है। इस शैली के कारण भारवि इत्यादि इन महाकाव्यकारों के काव्य क्लिष्ट हो गए हैं तथा भावपक्ष (हृदयपक्ष) की अप्रधानता और कलापक्ष की प्रधानता हो गई है।

किरातार्जुनीय, १।३ में भारवि ने भाषण के तीन गुणों को बतलाया है—

(१) शब्दसौन्दर्य—हृदय के भावों को अभिव्यक्त (प्रगट) करने में समर्थ सुन्दर शब्दों का प्रयोग (२) अर्थगाम्भीर्य–अर्थ की गम्भीरता अर्थात् अनावश्यक शब्दों का अभाव—थोड़े शब्दों से अधिक कहना (३) अर्थविनिश्चय–प्रामाणिक सन्देहरहित कथन। वस्तुतः यहाँ भारवि ने काव्य-रचना की शैली के गुणों की ओर संकेत किया है। भारवि की शैली में ये तीनों गुण विद्यमान हैं।

भारवि की लेखनशैली वैदर्भी और गौड़ी शैलियों का सम्मिश्रण है। भारवि में कालिदास की वैदर्भी शैली की सरलता, स्वाभाविकता और कोमलता नहीं पायी जाती। दूसरी ओर माघ की समास-बहुला धीर और गम्भीर गौड़ी शैली का भी वे आश्रय नहीं लेते। अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के द्वारा उन्होंने वर्ण्य विषय का प्रसङ्ग के अनुसार सुन्दर वर्णन किया है।

अलंकार तथा कलावादिता–अलंकारों के प्रयोग में भारवि बड़े कुशल हैं। अलंकारों के बहुल प्रयोग के द्वारा उन्होंने अपने काव्य को अलंकृत करने का बड़ा प्रयत्न किया है। उपमा, रूपक; उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास इत्यादि अर्थालंकारों का तथा यमक और श्लेष इत्यादि शब्दालंकारों का प्रयोग भारवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। किन्तु कई स्थलों पर भारवि अनावश्यक अलंकार-प्रियता का भी प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अत्यन्त श्रमसाध्य चित्र-काव्य के लिखने का प्रयत्न किया है। इससे उनके काव्य में कृत्रिमता आ गई है। इस प्रकार एक पद्य में पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी पंक्तियाँ समान हैं; एक दूसरे पद्य मे चारो पंक्तियाँ समान हैं। कुछ पद्यों में प्रत्येक पंक्ति उल्टी तरफ से ठीक उसी प्रकार पढ़ी जाती है जैसे आगे वाली पंक्ति,-या पूरा पद्य ही उल्टा पढ़ा जाने पर अगले पद्य के समान ही हो जाता है; कुछ पद्य चाहे वे सीधे पढ़े जाये या उल्टे समान ही रहते हैं

और एक ही अर्थ देते हैं। एक पद्य के तीन अर्थ निकलते हैं; कुछ पद्यों में दो ही व्यञ्जनों का प्रयोग हुआ है तथा उन्होंने एक व्यञ्जन वाला भी एक श्लोक लिखा है जिसमें केवल 'न्' का ही प्रयोग हुआ है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ १५।१४

छन्द—छन्दों के प्रयोग में भी भारवि उतने ही बढ़े हुए हैं जितने कि अलंकारों के प्रयोग में जिसके बीसों उदाहरण उनके काव्य से दिए जा सकते हैं। कालिदास के मुख्य छन्द ६ हैं, भारवि के १२ और माघ के १६। भारवि ने वंशस्थ का प्रयोग सबसे अधिक सुन्दरता से किया है। इसके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, स्वगता, पुष्पिताग्रा, औपच्छन्दसिक आदि का प्रयोग मिलता है।

रस—भारवि वीर रस के सिद्धहस्त कवि हैं। द्वितीय सर्ग में भीम की उक्तियाँ वीर रस से मण्डित हैं। वह दुर्योधन की कृपा से नहीं प्रत्युत युद्ध करके अपना राज्य लेना चाहता है। जिस प्रकार मृगेन्द्र (सिंह) अपने मारे हुए मदस्रावी हाथियों के द्वारा अपना आहार सम्पादन करता है, उसी प्रकार महान् व्यक्ति संसार को अपने प्रताप से अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायता से अपने अभ्युदय की अभिलाषा नहीं करता।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥ २।१८

वीर रस से अतिरिक्त शृङ्गार का भी उन्होंने अच्छा वर्णन किया है।

काव्य-दोष—यह सर्वविदित है कि कोई भी मानवी कृति सर्वथा दोषशून्य नहीं हो सकती है। यही बात महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय पर भी लागू होती है। अनेक महनीय गुणों के साथ-साथ उनके काव्य में कतिपय दोष भी उपलब्ध होते हैं। उनका सबसे बड़ा दोष है—पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रति उनका अनुराग। राजनीति, नीति, कामशास्त्र, व्याकरण, छन्द, अलंकार इत्यादि विविध

शास्त्रों में अपने पाडित्य के प्रदर्शन का उन्होंने बड़ा भारी प्रयत्न किया है। शाब्दिक चमत्कार और अलंकारों की साजसज्जा का उन्हें विशेष चाव है। वे अनावश्यक अतिशय अलंकार-प्रियता का प्रदर्शन करते हैं। इससे उनके काव्य में कृत्रिमता आ गई है। उनका पाडित्य-प्रदर्शन ऐसा दोष है जिसने उनके काव्य के हृदयपक्ष (भावनापक्ष) को दुर्बल बना दिया है। उनका भावनापक्ष दुर्बल तथा कलापक्ष प्रबल (प्रधान] हो गया है। इन्होंने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के पीछे पाठक की रुचि का कोई ध्यान नहीं रखा है। काव्य की दृष्टि से उनका चित्रबन्ध-निबन्धन अधम (नीच) काव्य की श्रेणी में आता है।

भारवि के द्वारा किए गए दीर्घ और विशालकाय वर्णन भी सदोष हैं। उनके अनावश्यक विशाल वर्णन पाठक के धैर्य को समाप्त कर देते हैं और खटकने लगते हैं। कालिदास के महाकाव्यों में भी कथाप्रवाह मन्थर गति से चलता है किन्तु उसमें अवरोध दृष्टिगोचर नहीं होता। पाठक की मनोवृत्ति के अनुकूल कथा धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। कथा के बीच में यदि कालिदास प्रकृति आदि के वर्णनों का समावेश करते हैं तो वे कथाप्रसङ्ग को भी भूल नहीं जाते। भारवि में ऐसी बात नहीं है। किसी विषय को लेकर जब तक वे अपने सम्पूर्ण मस्तिष्क को खाली नहीं कर लेते हैं तब तक वे आगे नहीं बढ़ते हैं। अलंकारों, कल्पनाओं और विचित्र शब्दों की झड़ी लगा देते हैं। इससे पाठक ऊब जाता है। किरातार्जुनीय में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कवि का दीर्घ और अनावश्यक वर्णन खटकता है। हिमालय, ऋतुओं, अप्सराओं इत्यादि के विस्तृत वर्णन उपर्युक्त तथ्य को भली भाँति प्रमाणित कर देते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी भारवि का महाकाव्य अत्यन्त उदात्त, पर्याप्त रूप में रोचक तथा महनीय गुणों का विशाल आगार है।

*

प्रथम सर्ग की कथा

प्रथम सर्ग की कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में वनेचर (गुप्तचर) की उक्ति है तथा द्वितीय भाग में द्रौपदी की उक्ति है।

प्रथम भाग (वनेचर की उक्ति)—राज्य से भ्रष्ट होकर युधिष्ठिर द्रौपदी और अनुजों के साथ द्वैतवन में निवास करते हैं। दुर्योधन के सम्पूर्ण वृत्तान्त को जानने के लिए युधिष्ठिर के द्वारा हस्तिनापुर भेजा गया गुप्तचर (वनेचर] वापस आता है। वह युधिष्ठिर को प्रणाम करता है। युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर वह दुर्योधन के वृत्तान्त को इस प्रकार सुनाता है—हे राजन् ! गुप्तचरों के माध्यम से ही सम्पूर्ण बातों को जानने वाले स्वामी को गुप्तचर के द्वारा ठगा नहीं जाना चाहिए। इसलिए अप्रिय अथवा प्रिय जैसा भी मैं कहूँ उसको आप क्षमा करें। क्योंकि हितकर और प्रिय वचन दुर्लभ होता है। जो राजा को हितकारी उपदेश नहीं करता वह कुत्सित अमात्य (कुमन्त्री, कुमित्र) है। जो हितकारक व्यक्ति से उपदेश नहीं सुनता वह कुस्वामी (निन्दित राजा) है। राजाओं और अमात्यों के परस्पर अनुकूल होने पर समस्त सम्पत्तियाँ सदा अनुराग करती हैं। स्वभाव से ही दुर्बोध राजाओं का चरित्र कहाँ और मुझ जैसे अज्ञानी पुरुष कहाँ ! शत्रुओं के अत्यन्त रहस्यपूर्ण राजनीति-मार्ग को जो मैं जान पाया हूँ वह आप का ही प्रभाव है। राजसिंहासन पर आरूढ भी दुर्योधन वन में निवास करने वाले आप से पराजय की शङ्का करता हुआ द्यूतक्रीड़ा के बहाने से जीती हुई पृथ्वी [राज्य] को अब नीति से जीतना चाहता है। कुटिल दुर्योधन आप को जीतने की अभिलाषा से अपने निर्मल यश को प्रजा में फैला रहा है। काम, क्रोध इत्यादि छः अन्तःशत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त करके वह मनुप्रोक्त राजधर्म का अनुसरण कर रहा है। आलस्य का परित्याग करके एवं कार्य के अनुसार रात

और दिन का विभाजन करके वह निरन्तर उद्योग कर रहा है। अभिमानरहित वह दुर्योधन सेवकों के साथ मित्र की तरह, मित्रों के साथ बन्धु की तरह और बन्धुजनों के साथ अपने समान व्यवहार करता है। दुर्योधन की नीति समन्वय वादिनी है। धर्म, अर्थ और काम-इन तीन पुरुषार्थों का समान भाव से दुर्योधन सेवन करता है। वह इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं करता है और न किसी एक में उसकी अत्यासक्ति है। साम, दान, दण्ड और भेद के प्रयोग में दुर्योधन अत्यन्त निपुण है। दुर्योधन प्रसन्न होने पर केवल मधुर वचनों का प्रयोग ही नहीं करता अपितु साथ मे धन भी देता है। जिसे देता है उसे सत्कारपूर्वक देता है। सत्कार भी वह गुणों को देखकर करता है। गुणों से समन्वित व्यक्ति का ही वह सत्कार करता है, गुणहीन का नहीं। लोभ अथवा क्रोध के वशीभूत होकर दुर्योधन किसी को दण्ड नहीं देता। दण्ड के विषय में वह स्वेच्छाचारी नहीं है। मनु इत्यादि धर्माचार्यों के उपदेशों के अनुसार वह दण्ड देता है। दण्ड देने में वह पक्षपात नहीं करता। जिस आधार पर वह शत्रुओं को दण्ड देता है, उसी आधार पर वह अपने पुत्र को भी दण्ड देता है। जो अपराध करता है वह दण्ड पाता है, चाहे वह कोई भी हो। आप लोगों से भयभीत रहता हुआ वह चारों ओर आत्मीय जनों को रक्षकों के रूप में नियुक्त करके भयरहित आकृति को धारण करता है। सौंपे गए कार्यों के पूर्ण हो जाने पर वह सेवकों को धनादि देकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। दुर्योधन भली-भाँति जानता है कि किस कार्य की सिद्धि के लिए किस उपाय का प्रयोग करना चाहिए। उपायों के समुचित प्रयोग के कारण उसकी सम्पत्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। सम्पत्ति चारों ओर से उसके पास एकत्र हो रही है। उपहार और कर देने वाले राजाओं से उसका आँगन भरा रहता है। प्रजापालन में तत्पर दुर्योधन अन्न की वृद्धि के लिए अपने राज्य में सिंचाई के साधनों-कुओं, नहरों, जलाशयों इत्यादि का निर्माण करा रहा है। सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो जाने से प्रचुर अन्न की उपज हो रही है। किसान लोग अब वर्षा के जल पर निर्भर नहीं हैं। कृषि—कर्म सुखसाध्य और लाभप्रद हो गया है। अन्न की विपुलता

होने के कारण प्रजा सुखी है, सन्तुष्ट है और दुर्योधन में अनुरक्त हैं। दुर्योधन अपने बलशाली योद्धाओं को कृतज्ञतावश समय-समय पर बहुमूल्य पारितोषिक प्रदान करता है। इससे प्रसन्न होकर वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दुर्योधन के अभीष्ट कार्यों को सम्पादित करना चाहते हैं। दुर्योधन अपने राष्ट्र के वृत्तान्त को जानने के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के वृत्तान्त को भी भली-भाँति जानता है। अपने गुप्तचरों के माध्यम से वह दूसरे राजाओं के रहस्यों को तो पूर्ण रूप से जानता है, किन्तु उसके रहस्यों को कोई नहीं जानता। दूसरे लोगों को उसकी योजनाओं का तभी पता चलता है जब वे कार्य रूप में परिणत हो जाती हैं। यद्यपि उसने किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं किया और न उसने किसी के प्रति क्रोध किया, तथापि सभी राजा उसके गुणों से प्रभावित होकर उसके आदेश को शिरोधार्य करते हैं। नवीन यौवन के कारण गर्वयुक्त दुःशासन को युवराज पद पर स्थापित करके वह स्वयं यज्ञ करने में लगा है। भूमण्डल का शासन करता हुआ भी दुर्योधन तुमसे आने वाली विपत्तियों की चिन्ता करता ही रहता है। प्रसङ्गवश आप का नाम आने पर अर्जुन के पराक्रम को स्मरण करता हुआ वह दुःखी हो जाता है। कपटपरायण उस दुर्योधन के प्रति समुचित प्रतीकार शीघ्र कीजिए। मुझ जैसे गुप्तचरों की वाणी तो समाचार देने तक ही सीमित होती है। इस प्रकार कहकर और पुरस्कार प्राप्त कर वनेचर अपने घर चला गया। युधिष्ठिर ने द्रौपदी के भवन में प्रवेश करके ये सब बातें द्रौपदी के समक्ष भाइयों से कही।

द्वितीय भाग (द्रौपदी की उक्ति)—शत्रुओं की समृद्धि को सुनकर उनके द्वारा किए गए अपमानों को स्मरण करती हुई द्रौपदी युधिष्ठिर के क्रोध और उत्साह को बढ़ाने के लिए बोली—हे राजन्! आप जैसे बुद्धिमानों के प्रति स्त्रियों के द्वारा किया गया उपदेश तिरस्कार के समान होता है। तथापि मेरी तीव्र मनोव्यथायें मुझको कहने के लिये प्रेरित कर रही हैं। इन्द्र के समान महान् पराक्रमी अपने पूर्वजों के द्वारा बहुत काल तक धारण की गई पृथ्वी (राज्य) को आपने स्वयं उसी प्रकार छोड़ दिया, जिस प्रकार

उन्मत्त हाथी पुष्प-माला को फेंक देता है। वे मूर्ख लोग सर्वदा पराजय को प्राप्त करते हैं जो कपटाचारियों के प्रति कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। धूर्त लोग सरल एवं निष्कपट लोगों के रहस्य को जानकर उन्हें विनष्ट कर डालते हैं। आपने अपनी पत्नी का और राजलक्ष्मी का शत्रुओं (कौरवों) के द्वारा अपहरण कराया। संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है। इस आपत्ति-काल में मनस्वी-जनों के द्वारा निन्दित मार्ग में चलते हुए आपको क्रोधाग्नि जला क्यों नहीं डालती ? प्राणी स्वयं ही उस व्यक्ति के वश में हो जाते हैं, जिसका क्रोध व्यर्थ नहीं होता है। क्रोध-रहित व्यक्ति के मित्र उसका सम्मान नहीं करते और शत्रु उससे डरते नहीं। विशाल रथ में बैठकर चलने वाला भीम अब धूलि से व्याप्त होकर पैदल पर्वतों में भटक रहा है। इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन की शक्ति का दुरुपयोग वृक्षों से वल्कल लाने में हो रहा है। वन भूमि पर सोने से कठोर शरीर वाले तथा चारों ओर केशों से भरे हुए नकुल और सहदेव दो पहाड़ी हाथियों की तरह इधर-उधर घूम रहे हैं। इन सब की दुर्दशा को देखकर क्या आपके मन को कष्ट नहीं होता है ? आप अपने संयम और धैर्य को छोड़ने के लिए तैयार क्यों नहीं होते हैं ? आपकी बुद्धि ऐसी क्यों हुई यह तो मैं नहीं जानती क्योंकि प्राणियों की मनोवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। किन्तु आपकी विपत्ति को देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। पहले बहुमूल्य शय्या पर सोये हुए जो आप स्तुतिपरक मांगलिक शब्दों से जगाये जाते थे, वही आप अब कुशों से परिव्याप्त भूमि पर शयन करके शृगालियों के अशुभ शब्दों से जागते हैं। इधर-उधर भटकते रहने से तथा यथेष्ट भोजन के अभाव में आपका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है। दानादि के अभाव में आपका यश भी अत्यन्य क्षीण हो गया है। मणिमय पाद-पीठ पर विद्यमान रहने वाले आपके जिन चरणों को सामन्त राजाओं के सिर पर स्थित पुष्प-मालाओं का पराग रंग देता था, वही आपके चरण अब कष्टप्रद कुश-काननों मे भटकते रहते हैं। यतः आप और हम सब लोगों की यह दुर्दशा शत्रुओं के कारण है (भाग्य के कारण नहीं), अतः मुझे अत्यधिक व्यथित कर रही है। शान्ति को छोड़कर शत्रुओं के

विनाश के लिए क्षात्र तेज को पुनः धारण कीजिए। मुनि लोग ही शान्ति के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं, राजा लोग नहीं। तेजस्वियों में अग्रणी और यश को सर्वस्व मानने वाले आप जैसे व्यक्ति भी यदि इस प्रकार शत्रुओं से तिरस्कार प्राप्त करके चुपचाप बैठे रहेंगे तो बड़े खेद की बात है कि मनस्विता आश्रय-विहीन होकर विनष्ट हो जायेगी। यदि आपका पराक्रम समाप्त हो गया है और आप सदा के लिए शान्ति को ही सुख का साधन मानते हैं तो राजाओं के चिह्न इस धनुष को त्यागकर जटा धारण कर लीजिए और द्वैत वन में रहकर हवन कीजिए। जब शत्रु अपकार करने में लगे हुए हैं तब आपको समय (तेरह वर्ष) की प्रतीक्षा करना उचित नहीं है। विजयाभिलाषी राजागण शत्रुओं से कपट का व्यवहार करके सन्धि में दोष उत्पन्न कर देते हैं और सन्धि को तोड़ देते हैं। भाग्य और समय के नियम के कारण तेजहीन हुए और अपार आपत्ति में पड़े हुए आपको राजलक्ष्मी पुनः प्राप्त होवे।

❀

प्रथमः सर्गः

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ १ ॥

अन्वयः—कुरूणाम् अधिपस्य श्रियः पालनीं प्रजासु वृत्तिं वेदितुं यम् अयुङ्क्त वर्णिलिङ्गी सः वनेचरः विदितः (सन्) द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ ।

शब्दार्थः—कुरूणाम्=कुरु देश (जनपद) के । अधिपस्य=राजा (अधिपति, दुर्योधन) की । श्रियः=राजलक्ष्मी का । पालनीं=पालन करने वाली, रक्षा करने वाली, सुप्रतिष्ठित करने वाली । प्रजासु वृत्तिं=प्रजासम्बन्धिनी नीति को, प्रजा-नीति को, प्रजा के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को, प्रजा-पालन की नीति को । वेदितुं=जानने के लिये । यम्=जिसको (युधिष्ठिर ने) । अयुङ्क्त=नियुक्त किया था (गुप्तचर के रूप में हस्तिनापुर भेजा था) । वर्णिलिङ्गी=ब्रह्मचारी के वेश को धारण करने वाला । सः वनेचरः=वह किरात (वन में विचरण करने वाला भील) । विदितः (सन्)=जानकर, शत्रु (दुर्योधन) के सम्पूर्ण वृत्तान्त (गुप्त रहस्य) को जानकर । द्वैतवने=द्वैत नामक वन (तपोवन) में । युधिष्ठिरं=युधिष्ठिर के पास । समाययौ—आया, प्राप्त हुआ, लौट आया, वापिस आया ।

हिन्दी अनुवादः—कुरुदेश के राजा (दुर्योधन) की राजलक्ष्मी का पालन करने वाली प्रजा-नीति (प्रजाविषयक नीति) को जानने के लिए (युधिष्ठिर ने) जिसको नियुक्त किया था (गुप्तचर के रूप में हस्तिनापुर भेजा था), ब्रह्मचारी के वेश को धारण करने वाला वह किरात (वनवासी भील) (दुर्योधन के सम्पूर्ण वृत्तान्त को) जानकर द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास वापस लौट आया ।

संस्कृतव्याख्या—दुर्योधनेन द्यूतक्रीडायां निर्जितः सन् राज्यभ्रष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरो द्वैताख्ये तपोवने निवासं चकार। राज्ञः राजलक्ष्मीः प्रजानुरञ्जनादेव सुप्रतिष्ठिता भवति—प्रजानुरञ्जनं विना सा सुप्रतिष्ठिता न भवति इति तथ्यं जानन् युधिष्ठिरो दुर्योधनस्य प्रजापालननीतिं (प्रजासु कुरुराजस्य दुर्योधनस्य कीदृशो व्यवहारः, दुर्योधनः प्रजाः सम्यक् पालयति न वा; दुर्योधने प्रजा अनुरक्ता न वा इदं सर्वं) विज्ञातुमेकं किरातं गुप्तचररूपेण हस्तिनापुरं प्रेषयामास (प्रेषितवान्)। ब्रह्मचारिवेषधारी स किरातः दुर्योधनस्य सर्वं वृत्तान्तं ज्ञात्वा द्वैतवने युधिष्ठिरं प्रत्याजगाम (प्रत्यागतः)।

समासः—वर्णोऽस्यास्तीति वर्णी, वर्णिनः लिङ्गमिति वर्णिलिङ्गम् (षष्ठी तत्पुरुष), वर्णिलिङ्गमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी। वने चरतीति वनेचरः (अलुक् तत्पुरुष)। युधि स्थिरः इति युधिष्ठिरः (अलुक तत्पुरुष)। द्वैतं च तद्वनं च इति द्वैतवनं तस्मिन् (कर्मधारय)।

व्याकरणम्—**कुरूणाम्**—कुरूणां निवासः कुरवः जनपदाः (कुरु नाम के राजा जहाँ निवास करते थे वह कुरुदेश कहलाता था)। 'तस्य निवासः' से अण् प्रत्यय हुआ—कुरु + अण्। 'जनपदे लुप्' से अण् का लोप हुआ। षष्ठी विभक्ति का बहुवचन। देश का नाम होने से कुरु शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ। देश के वाचक शब्द नित्य बहुवचन में होते हैं। जैसे—अङ्गाः, बङ्गाः, कलिङ्गाः, कुरवः। **पालनीं**—पाल्यते अनयेति पालनी ताम् पालनीम्। पाल् + ल्युट् + ङीप्। **वृत्तिं**—वृत् + क्तिन्। **वेदितुं**—विद् + तुमुन्। **अयुङ्क्त**—युज् + लङ् + अन्यपुरुष एकवचन। **वर्णिलिङ्गी**—वर्ण + इनि = वर्णिन्, वर्णिलिङ्गिन्, प्रथमा विभक्ति के एकवचन में वर्णिलिङ्गी रूप बना। **वनेचरः**—वने + चर् + ट। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से विभक्ति का लोप नहीं हुआ। वैकल्पिक रूप 'वनचरः भी होता है। **विदितः**—(१) विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः। विद् + क्त भावे। (२) विदितवृत्तान्तः। विद् + क्त कर्मणि (३) विदितवान्। विद् + क्त कर्तरि। **समाययौ**—सम् + आ + या + लिट्।

टिप्पणी–(१)'श्रियः पालनीं प्रजासु वृत्तिं'–इन शब्दों से भारवि के उत्कृष्ट राजनीतिविषयक ज्ञान का परिचय मिलता है। वस्तुतः प्रजा को प्रसन्न रखने से ही राजा की राजलक्ष्मी स्थिर रह सकती है। यदि राजा को अपनी प्रजा का अनुराग प्राप्त नहीं है तो वह अधिक काल तक प्रजा के ऊपर शासन नहीं कर सकता। इस तथ्य को भलीभाँति जानने वाले राज्यभ्रष्ट धर्मराज युधिष्ठिर ने पुनः राज्य प्राप्ति की अभिलाषा से दुर्योधन की प्रजापालननीति को जानने के लिये एक किरात को गुप्तचर के रूप में हस्तिनापुर भेजा था। अपने अनुजों और द्रौपदी के साथ द्वैतवन में निवास कर रहे युधिष्ठिर जानना चाहते थे कि दुर्योधन का प्रजा के प्रति कैसा व्यवहार है–क्या वह नीति का अनुसरण करके प्रजा का पालन कर रहा है–दुर्योधन को प्रजा का अनुराग प्राप्त है अथवा नहीं, इत्यादि। इन सब बातों को जानकर ही युधिष्ठिर पुनः राज्य-प्राप्ति के लिए अपेक्षित प्रयत्न कर सकते थे। (२) **वर्णिलिङ्गी**–वर्ण का अर्थ है आठ प्रकार के मैथुन (स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रियानिर्वृत्ति) का अभाव। वर्णिन् (वर्णी, वर्णि–) का अर्थ हुआ–आठ प्रकार के मैथुन से रहित व्यक्ति = ब्रह्मचारी। लिङ्ग का अर्थ है चिह्न = रूप = वेष। इस प्रकार वर्णिलिङ्गी का अर्थ हुआ–ब्रह्मचारी के वेष को धारण करने वाला। हस्तिनापुर में गुप्तचर के रूप मे जाने वाले किरात ने ब्रह्मचारी का वेष इसलिए धारण किया (बनाया) जिससे ब्रह्मचारी समझकर उसे कोई भी न रोके-टोके और वह दुर्योधन के समस्त गुप्त रहस्यों को सुगमता से जान ले (३) द्वैतवन इस समय देवबन्द कहलाता है। यह स्थान उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में स्थित है। (४) ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए महाकवि ने महाकाव्य का प्रारम्भ मङ्गलवाचक श्री (श्रियः) शब्द से किया है। (५) 'वने वनेचरः' में वने की एक बार आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ छेकानुप्रास है। अनेक (एक से अधिक) व्यञ्जनों का एक बार जो सादृश्य होता है वह छेकानुप्रास है (देखिए, मेरे द्वारा रचित अलंकार-प्रकाश)। आचार्य मल्लिनाथ ने यहाँ वृत्त्यनुप्रास माना है। (६) इस सर्ग के प्रथम ४४ श्लोक

वंशस्थ छन्द में हैं। इस छन्द का लक्षण यह है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।' इस छन्द में क्रमशः जगण, तगण, जगण और रगण होते हैं। (७) 'वर्णिलिङ्गी' में कुछ लोग 'अश्लीलत्व' दोष की संभावना करते हैं किन्तु जिस प्रकार 'शिवलिङ्ग', 'भगिनी', 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि शब्द विशिष्ट अर्थ के वाचक होने के कारण दुष्ट (सदोष) नहीं हैं, उसी प्रकार 'वर्णिलिङ्गी' शब्द के प्रयोग में भी कोई दोष नहीं है।

घण्टापथः—श्रिय इति। आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नातीवोपयुज्यते। तदुक्तम् 'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः। ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥' इति। **कुरूणां** निवासाः कुरवो जनपदाः। 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः। जनपदे लुप्। तेषाम् **अधिपस्य** सम्बन्धिनीम् शेषे षष्ठी। **श्रियोः** राजलक्ष्म्याः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी। पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् **पालनीं** प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः। प्रजारागमूलत्वात्' सम्पद इति भावः 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट्। 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। **प्रजासु** जनेषु विषये। 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः॥ **वृत्तिं** व्यवहारं **वेदितुं** ज्ञातुं **यं वनेचरं अयुङ्क्त** नियुक्तवान्। वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी। तदुक्तम्—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥' एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः। तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति **वर्णिलिङ्गी** ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः। **स** नियुक्तः। वने चरतीति **वनेचरः** किरातः। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः। 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। विदितं वेदनमस्यास्तीति **विदितः** परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच् प्रत्ययः। उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत् साधुत्वम्। न तु कर्तरि क्तः। सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात्। अत एव भाष्यकारः—अकारो मत्वर्थीयः। विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः, पीतमेषामस्तीति पीताः इति सर्वत्र। अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदकाः

पीताः इति। अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः। 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद् विभक्तत्वं तद् भ्रातृषूपचरितम्। 'पीतोदका गावः' इत्यत्रापि उदकस्य पीतत्व गोष्वारोप्यते इति। तद्वदत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते। एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्', 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या' एवमादयो व्याख्याताः। अथवा विदितो विदितवान्। सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः। यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ। यथाहुः—"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥" इति। द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने। यद्वा द्वे इते गते यस्मात् तद् द्वीतम्। द्वीतमेव द्वैतम्। तच्च तद्वनञ्च तस्मिन्। शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः। युधि रणे स्थिरं युधिष्ठिरं धर्मराजम्। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम्। समाययौ सम्प्राप्तवान्। अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकधैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम्। तल्लक्षणम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति॥ १॥

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥२॥

अन्वयः—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे। हि हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं न इच्छन्ति।

शब्दार्थः—कृतप्रणामस्य = कर लिया गया है (युधिष्ठिर को) नमस्कार (प्रणाम) जिसके द्वारा ऐसे, (युधिष्ठिर को) नमस्कार कर लेने वाले। सपत्नेन = शत्रु (दुर्योधन) के द्वारा। जितां = जीती हुई, वश में की हुई, अपने अधिकार में (अपने अधीन) की हुई। महीं = पृथ्वी (राज्य) को, (पृथ्वी के विषय में)। महीभुजे = राजा (युधिष्ठिर) के लिए। निवेदयिष्यतः = निवेदन करते हुए, कहते हुए। तस्य = उस (किरात) का। मनः न विव्यथे = मन (चित्त) व्यथित (दुःखित, भयभीत, विचलित) नहीं हुआ। हि = क्योंकि। हितैषिणः = हित (भलाई, कल्याण, मङ्गल)

चाहने वाले, हित की कामना (इच्छा) करने वाले । मृषा = मिथ्या, झूठा, असत्य । प्रियं = मधुर (वचन) को, अच्छी लगने वाली (वाणी) को । प्रवक्तुं = कहना, बोलना । न इच्छन्ति = नहीं चाहते ।

हिन्दी अनुवाद—(युधिष्ठिर को) प्रणाम कर चुकने पर शत्रु (दुर्योधन) के द्वारा जीती गई पृथ्वी (राज्य) के विषय (सम्बन्ध) में राजा (युधिष्ठिर) से कहते हुए (निवेदन करते हुए) उस (गुप्तचर) का मन व्यथित (दुःखित, विचलित) नहीं हुआ । (यह युक्त ही था) क्योंकि हित (भलाई) चाहने वाले असत्य प्रिय (मधुर) वचन बोलना (कहना) नहीं चाहते (मिथ्या मधुर वचन बोलने की इच्छा नहीं करते) ।

संस्कृतव्याख्या—ब्रह्मचारिवेषधारी सः किरातः (गुप्तचरः) युधिष्ठिरं प्रत्यागत्य युधिष्ठिराय प्रणनाम (प्रणामं चकार)। ततः राज्ञः युधिष्ठिरस्य पुरतः शत्रुणा दुर्योधनेन स्वायत्तीकृतायाः पृथिव्याः वर्णनं कर्तुं सः सन्नद्धः (उद्यतः) जातः । दुर्योधनः कपटेन हृतं राज्यं सम्प्रति नीतिमनुसृत्य पालयति—दुर्योधने प्रजाः सम्यक् अनुरक्ताः इदमप्रियमपि कटुसत्यं राज्ञे युधिष्ठिराय कथयितुं न स गुप्तचरः व्यथितः अभूत् । 'अप्रीतिजनकं शत्रोरुत्कर्षं राज्ञः युधिष्ठिरस्य पुरतः कथं कथयिष्यामि' इति किंचिन्मात्रमपि तस्य गुप्तचरस्य चित्तं विचलितं नाभूत् । यतः हितैषिणः भृत्याः (सेवकाः) स्वामिनः पुरतः कदापि मिथ्याभूतं प्रियं वाक्यं न वदन्ति । ते सदैव सत्यमेव वदन्ति—तत् प्रियं भवतु अप्रियं वा । स्वामिनः मङ्गलसम्पादनमेव भृत्यानां प्रयोजनं भवति । मिथ्याभाषणेन स्वामिनः कार्यस्य हानिः भवति । अतएव स्वामिनः हिताय ते कटुसत्यमपि कथयन्ति ।

समासः—कृतः प्रणामः येन सः तस्य (बहु०) । महीं भुनक्ति इति महीभुक् तस्मै महीभुजे (उपपदसमास) ।

व्याकरणम्—जितां—जि + क्त + टाप् । निवेदयिष्यतः—नि + विद् + णिच् + स्य (लृट्) + शतृ, षष्ठी का एकवचन । विव्यथे—वि + व्यथ् + लिट्, अन्यपुरुष, एकवचन । हितैषिणः—हितम् इच्छन्तीति हितैषिणः । हित + इष् + णिनिः । प्रवक्तुं—प्र + वच् + तुमुन् ।

टि०—(१) नीतिवाक्यामृत में बतलाया गया है कि गुप्तचर (चार) में ये चार गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए—(क) चतुरता (ख) स्फूर्ति (चुस्ती) (ग) सत्यवादिता (घ) तर्क ('अमौल्यममान्द्यममृषाभाषित्व-मभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' नीतिवाक्यामृत)। प्रस्तुत श्लोक में युधिष्ठिर के गुप्तचर (किरात) की सत्यवादिता का प्रतिपादन किया गया है। कटु सत्य का कथन करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं है। स्वामी के मङ्गल (हित) का सम्पादन करना उसका परम् प्रयोजन है। स्वामी के लिए वह सत्य का कथन करता है, भले ही वह सत्य स्वामी को कटु प्रतीत हो (२) महाकवि भारवि संस्कृत साहित्य में अर्थगाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध है। 'नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः' इस सूक्ति में महाकवि ने सार्वभौमिक सत्य (Universal truth) का निरूपण किया है। इस सूक्ति की तुलना किरात १.४ मे उक्त सूक्ति 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' के साथ कीजिए। (३) 'महीं महीभुजे' में व्यञ्जनसमूह की एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है। सामान्य (न हि प्रियं···हितैषिणः) के द्वारा विशेष (पूर्व में उक्त विशेष कथन) का समर्थन होने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है।

घण्टापथः—कृतप्रणामस्येति। कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात् कृतनमस्कारस्य। सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय। क्रियाग्रहणात् सम्प्रदानत्वम्। निवेदयिष्यतः ज्ञापयिष्यतः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। तस्य वनेचरस्य। मनो न विव्यथे। कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः। 'व्यथभयचलनयोः' इति धातोर्लिट्। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति। हि यस्मात्। हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषाः मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः। 'अमौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते॥ २॥

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे॥ ३॥

अ०—द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः रहसि अनुज्ञाम् अधिगम्य सः सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे।

श०—द्विषां विघाताय = शत्रुओं (दुर्योधन इत्यादि कौरवों) के विनाश के लिए। विधातुम् = विधान (प्रयत्न, व्यापार, उद्योग) करने के लिए। इच्छतः = इच्छा करते हुए, इच्छा करने वाले। भूभृतः = राजा (युधिष्ठिर) की। रहसि = एकान्त में। अनुज्ञाम् = आज्ञा को, अनुमति को। अधिगम्य = प्राप्त करके, पाकर। सः = वह (वनेचर, गुप्तचर, किरात)। सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं = सौष्ठव (शब्द-सौष्ठव, शब्द-सौन्दर्य, शब्दों की सुन्दरता, शब्दों की मधुरता, शब्दसामर्थ्य) और औदार्य (अर्थ की गम्भीरता, अर्थगौरव, अर्थसम्पत्ति, अर्थवत्ता, अर्थ का वैभव, अर्थ की गरिमा) के विशेष (अतिशय, आधिक्य) से सुशोभित (समन्वित, युक्त)। विनिश्चितार्थाम् = निश्चित है अर्थ जिसका ऐसी, असंदिग्ध (स्पष्ट) अर्थों वाली, संदेहरहित। इति = इस प्रकार की। वाचम् = वाणी को। आददे = बोला, कहा, कहने लगा।

अनु०—शत्रु (दुर्योधन इत्यादि कौरवों) के विनाश के लिए उद्योग करने की इच्छा करते हुए राजा (युधिष्ठिर) की एकान्त में अनुमति प्राप्त करके वह (गुप्तचर किरात) शब्दसौन्दर्य (सौष्ठव) और अर्थगाम्भीर्य (औदार्य) के अतिशय (आधिक्य) से सुशोभित (विभूषित) [अथवा—शब्दसौन्दर्य और अर्थगाम्भीर्य (गुणों) से युक्त होने के कारण विशेष रूप से सुशोभित] तथा असंदिग्ध (स्पष्ट) अर्थों वाली वाणी को कहने लगा।

संस्कृतव्याख्या—यद्यपि प्रियार्हे राज्ञि कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्ता, तथापि युधिष्ठिरस्य हितार्थं 'दुर्योधनः नीतिमनुसृत्य प्रजां पालयति' इति कटुसत्यस्य कथनमावश्यकम्। स्वामिनः अनुमतिं विना कटुसत्यस्य कथनं गुप्तचरस्य कृते भयानकमपि भवितुं शक्नोति, अतएव सः गुप्तचरः कटुसत्यस्य कथनाय शत्रूणां विनाशाय उद्योगं कर्तुमिच्छतः युधिष्ठिरस्य अनुमतिं प्राप्नोति। ततः सः गुप्तचरः शब्दलालित्येन अर्थगाम्भीर्येण च अतिशयेन शोभमानां सन्देहरहितां च वाणीमुवाच।

स०—भुवं बिभर्ति इति भूभृत्, तस्य भूभृतः (उपपदसमास)। सौष्ठवं (सुष्ठुभावः) च औदार्यं (उदारस्य भावः) च सौष्ठवौदार्ये (द्वन्द्व), तयोः विशेषः सौष्ठवौदार्यविशेषः (तत्पु०), (अथवा—सौष्ठवौदार्ये एव विशेषः इति सौष्ठवौदार्यविशेषः—कर्मधारय)। तेन शालते इति सौष्ठवौदार्यशालिनी ताम् (उपपदसमास)। विशेषेण निश्चितः इति विनिश्चितः (प्रादितत्पुरुष), विनिश्चितः अर्थः यस्याः सा विनिश्चितार्था ताम् (बहुव्रीहि)।

व्या०—विघाताय—वि + हन् + घञ्; 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्र से चतुर्थी विभक्ति। विधातुम्—वि + धा + तुमुन्। इच्छतः—इष् + शतृ + षष्ठी एकवचन। अधिगम्य—अधि + गम + ल्यप। आददे—आ + दा + लिट्।

टि०—(१) दुर्योधन इत्यादि कौरवों के विनाश के लिए युधिष्ठिर प्रयत्न करना चाहते हैं—इस तथ्य का पता तो इससे ही चलता है कि उन्होंने दुर्योधन की प्रजापालननीति जानने के लिए गुप्तचर को हस्तिनापुर भेजा। (२) यद्यपि सत्य कहना गुप्तचर का परम आवश्यक कर्त्तव्य है तथापि राजा के सम्मुख कटु सत्य कहना गुप्तचर के लिए भयानक हो सकता है। यही कारण है कि गुप्तचर ने युधिष्ठिर से कटु सत्य कहने की अनुमति ले ली। (३) यहाँ भाषण के तीन गुणों को बतलाया गया है। (क) शब्दसौन्दर्य—हृदय के भावों को अभिव्यक्त (प्रगट) करने में समर्थ सुन्दर शब्दों का प्रयोग (ख) अर्थगाम्भीर्य—अर्थ की गम्भीरता अर्थात् अनावश्यक शब्दों का अभाव-थोड़े शब्दों से अधिक कहना। (ग) अर्थ-विनिश्चय-प्रामाणिक सन्देहरहित कथन। उपर्युक्त के द्वारा महाकवि ने काव्य-रचना की शैली के गुणों की ओर संकेत किया है। भारवि की शैली में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। (४) तकार और वकार की आवृत्ति होने से 'वृत्यनुप्रास' अलंकार है।

घण्टापथः—द्विषामिति। स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम्। कर्मणि षष्ठी। विघाताय विहन्तुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी। 'भाव-वचनाच्च' इति तुमर्थे घञ् प्रत्ययः। अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः। तथापि प्रयोग-

वैचित्र्यविशेषस्याप्यलङ्कारत्वादेवं व्याचक्षते। विधातुं व्यापारं कर्तुम् इच्छतः समानकर्तृकेषु तुमुन्। द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः। अतएव भूभृतो युधिष्ठिरस्य। रहसि एकान्ते अनुज्ञाम् अधिगम्य। सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्द-सामर्थ्यम्। सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः। उदारस्य भावः औदार्यम् अर्थसम्पत्तिः। तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये। अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः। उक्तं च काशिकायाम्—अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः। 'पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नमिति।' त एव विशेषः तयोर्वा विशेषः तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम्। ताच्छील्ये णिनिः। विनिश्चितार्थां विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपां वाचं वाक्यम्। आददे स्वीकृतवान्। उवाचेत्यर्थः॥ ३॥

क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥४॥

अ०—नृप! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्चनीयाः। अतः असाधु साधु वा (मम वचनं) क्षन्तुम् अर्हसि। (यतः) हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम्।

श०—नृप! = हे राजन्!। क्रियासु युक्तैः = कार्यों में नियोजित (लगाये गये, नियुक्त किए गए)। अनुजीविभिः = सेवकों (अनुचरों, भृत्यों) के द्वारा। चारचक्षुषः = गुप्तचर (चार) ही नेत्र हैं जिनके ऐसे, गुप्तचरों के द्वारा देखने वाले। प्रभवः = स्वामी (राजा लोग)। न वञ्चनीयाः = नहीं ठगे जाने चाहिए, (मिथ्या भाषण करके) ठगने (छलने, धोखा देने) योग्य नहीं हैं। असाधु = अप्रिय, असमीचीन, कटु, बुरा। वा = अथवा। साधु = प्रिय, समीचीन, मधुर, भला। क्षन्तुम् अर्हसि = क्षमा करें, क्षमा करने के योग्य हो। हितं = हितकर, कल्याणकर। मनोहारि = मनोहर, प्रिय, मधुर, मन को अच्छा लगने वाला। वचः = वचन, कथन। दुर्लभम् = कठिनता से मिलने (प्राप्त होने) वाला (होता है)।

अनु०—हे राजन्! कार्यों में लगाए गये सेवकों के द्वारा गुप्तचरों के द्वारा देखने वाले स्वामी ठगे नहीं जाने चाहिए। इसलिए अप्रिय अथवा प्रिय (जैसा भी मैं कहूँ उस) को आप क्षमा करें। क्योंकि हितकर और मनोहर वचन दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाला) होता है (अर्थात् ऐसा बहुत कम होता है कि एक ही बात सुनने में अच्छी भी लगे और कल्याणकर भी हो)।

सं० व्या०—कटुसत्यकथनात्पूर्वं नः वनेचरः प्रथमं स्वामिनः युधिष्ठिरात् क्षमायाचनां करोति। युधिष्ठिरं सम्बोधयन् सः कथयति। हे राजन्! कार्येषु नियुक्तैः भृत्यैः स्वामिनः (राजानः) न प्रतारणीयाः। ये भृत्याः नृपस्य पुरतः सत्यभूतमर्थं न उक्त्वा मिथ्याभूतं स्तुतिपरकं मधुरवाक्यं कथयन्ति ते तु नृपस्य प्रवञ्चनं कुर्वन्ति। अनेन प्रभुकार्यस्य हानिर्भवति। यथा कश्चिदपि पुरुषः यत् चक्षुषा पश्यति तदेव प्रमाणीकरोति तथा यत् गुप्तचरेणोच्यते तदेव राजानः प्रमाणीकुर्वन्ति। स्वनियुक्तगुप्तचरमुखैः ते सर्वमवगच्छन्ति। अहं सत्यमेव वदिष्यामि इत्यर्थः। अतः शत्रोर्दुर्योधनस्य विषये मम सत्यभूतं वचनम् अप्रियं भवतु प्रियं वा भवतु तद् भवता क्षम्यताम्। यतः हितकरं तथैव सद्यः मनोहरं वचनं दुर्लभं भवति।

स०—चरन्तीति चराः, चराः एव चाराः, चाराः एव चक्षूंषि येषां ते चारचक्षुषः (बहु०)। मनो हर्तुं शीलमस्येति मनोहारि (उपपदसमास)।

व्या०—युक्तैः—युज् + क्त + तृतीया बहुवचन। अनुजीविभिः—अनु + जीव् + णिनि + तृतीया बहुवचन। वञ्चनीयाः—वञ्च् + णिच् + अनीयर्। क्षन्तुम्—क्षम् + तुमुन्। अर्हसि—अर्ह् + लट् मध्यम पुरुष, एकवचन। मनोहारि—मनः + हृ + णिनि। दुर्लभम्—दुःखेन लभ्यते इति। दुर् + लभ् + खल्। प्रभवः—प्रभवन्तीति प्रभवः।

टि०—अकेला राजा अपने राज्य और दूसरों राज्यों के वृतान्तों को जानने में असमर्थ होता है, अतः वह अपने द्वारा नियुक्त गुप्तचरों की सहायता से अपने राज्य और दूसरे राज्यों के वृतान्तों को जानता है। गुप्तचर राजा के नेत्र होते हैं। जिस प्रकार नेत्र के द्वारा देखा हुआ प्रमाण होता है,

उसी प्रकार गुप्तचर का वचन भी राजा के लिए प्रमाण होता है। जो गुप्तचर सच्ची बातों को छिपाकर राजा के सम्मुख मीठी-मीठी स्तुतिपरक मिथ्या बातें करते हैं, वे राजा को धोखा देते हैं। इससे राजा के कार्य की हानि होती है और गुप्तचरों का नैतिक पतन होता है। वनेचर के कथन का अभिप्राय यह है कि हस्तिनापुर में दुर्योधन के विषय में जो उसने देखा है उसे वह ज्यों का त्यों युधिष्ठिर के समक्ष प्रस्तुत करेगा, चाहे वह युधिष्ठिर को अच्छा (प्रिय) लगे अथवा बुरा (अप्रिय) लगे। (१) 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सारगर्भित सूक्ति में महाकवि ने सार्वभौमिक सत्य का निरूपण किया है। (३) इस सूक्ति द्वारा पूर्ववर्ती कथन का हेतुनिर्देशपूर्वक समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार। (४) तृतीय चरण में 'मदुक्तम्' का अभाव होने से 'न्यूनपदता' दोष है।

घण्टापथः—क्रियास्विति। हे नृप! क्रियासु कृत्यवस्तुषु। युक्तैः नियुक्तैः। अनुजीविभिः भृत्यैः। चारादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चराः। पचाद्यच्। त एव चाराः। चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्ययः स्वार्थे। त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते। प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीयाः न प्रतारणीयाः! सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपातः इति भावः। अतः अप्रतार्यत्वाद्धेतोः। असाधु अप्रियं साधु प्रियं वा। मदुक्तमिति शेषः। क्षन्तुं सोढुं अर्हसि। कुतः? हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥४॥

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥५॥

अ०—यः अधिपं साधु न शास्ति सः किंसखा। (एवमेव) यः हितात् न संशृणुते सः किंप्रभुः। हि नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु (सत्सु) सर्वसम्पदः सदा रतिं कुर्वते।

श०—यः = जो। अधिपं = राजा (स्वामी, अधिपति) को। साधु = हितकर, कल्याणप्रद। न शास्ति = उपदेश नहीं करता है। सः = वह (हित का उपदेश न करने वाला)। किंसखा = कुमित्र, कुत्सित (निन्दित) मित्र (मन्त्री, अमात्य इत्यादि) है। यः = जो। हितात् = हितकारक (हितैषी, हित का उपदेश करने वाले) व्यक्ति से। न संशृणुते = (हितकारी उपदेश को) नहीं सुनता। सः = वह। किंप्रभुः = कुस्वामी, कुत्सित (निन्दित) स्वामी (राजा) है। हि = क्योंकि। नृपेषु अमात्येषु च = राजाओं और अमात्यों (मन्त्रियों, सचिवों) के (में)। अनुकूलेषु = (परस्पर) अनुकूल (अनुरक्त, अनुरागयुक्त, एक मन वाले) होने पर। सर्वसम्पदः = सभी (सभी प्रकार की) सम्पदायें (सम्पत्तियाँ)। सदा = सर्वदा। रतिं कुर्वते = अनुराग करती हैं (निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती हैं)।

अनु०—जो राजा (स्वामी, अधिपति) को हितकारी उपदेश नहीं करता वह (हित का उपदेश न करने वाला) कुमित्र (निन्दित मित्र, कुत्सित अमात्य) है। जो हितकारक व्यक्ति से (उपदेश) नहीं सुनता वह कुस्वामी (निन्दित राजा) है। क्योंकि राजाओं और अमात्यों (मन्त्री इत्यादि सेवकों) के परस्पर अनुकूल (अनुरक्त, एकमत) होने पर समस्त सम्पत्तियाँ (सम्पदायें) सर्वदा अनुराग करती हैं। [अर्थात् राजा की समस्त सम्पत्तियाँ (राजलक्ष्मी) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करती रहती हैं, कभी भी राजा को छोड़कर शत्रुओं के पास नहीं जाती हैं]।

सं० व्या०—नृपाय हितोपदेशकरणं भृत्यानां (अमात्यादीनां) धर्मः, अमात्योपदेशस्य श्रवणं च नृपस्य धर्मः इति प्रतिपाद्यते अस्मिन् श्लोके। यः सखा (सचिवः, मन्त्री) नृपाय हितकरं वचनं नोपदिशति स कुत्सितः (निन्द्यः) सखा (सचिवः, मन्त्री) अस्ति। तथैव यः नृपः हितोपदेष्टुः सचिवात् हितकरं वचनं न शृणोति (हितोपदेशस्य अवहेलनां करोति) सः कुत्सितः नृपः अस्ति। सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं च स्वामिना इत्यर्थः। एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यात्। नृपेषु (राजसु) सचिवेषु (अमात्येषु) च परस्परमनुरक्तेषु सत्सु समस्ताः सम्पत्तयः निरन्तरमनुरागं कुर्वन्ति—राज-

मन्त्रिणोरैकमत्यात् सम्पत्तयः (राजलक्ष्मीः) निरन्तरं वृद्धिं गच्छन्ति, कदापि नृपं न परित्यजन्ति। हस्तिनापुरे दुर्योधनस्य विषये यत्किञ्चित् मया ज्ञातः तत्सर्वं मया वक्तव्यं भवता च श्रोतव्यम्, कोपश्च न कार्यः इति भावः।

स०—कुत्सितः सखा किंसखा (कर्मधारय)। कुत्सितः प्रभुः किंप्रभुः (कर्मधारय)। सर्वाः सम्पदः सर्वसम्पदः (कर्मधारय)।

व्या०—शास्ति—शास्+लट्+अन्यपुरुष, एकवचन, द्विकर्मक धातु। संशृणुते—सम्+श्रु+लट्। रतिं—रम्+क्तिन्। कुर्वते—कृ+लट्+अन्यपुरुष, बहुवचन। नृपेषु, अमात्येषु और अनुकूलेषु में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी है। हितात् में 'आख्यातोपयोगे' से पञ्चमी है।

टि०—(१) प्रस्तुत पद्य में राजा (स्वामी) और अमात्य (हित चाहने वाले भृत्य) दोनों को शिक्षा दी गई है। भय की आशंका से हितैषी व्यक्ति को चुप नहीं रहना चाहिए। हितैषी का कर्तव्य है कि वह राजा (स्वामी) के समक्ष हित की बात अवश्य कहे, चाहे वह बात सुनने वाले राजा को कितनी ही अप्रिय लगने वाली हो। भय की आशंका से जो सेवक हित की बात न कहकर चुप रहता है वह निन्दा का पात्र होता है। उसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह अपने हितैषी भृत्यों की बातों को सुने, अप्रिय बातों को सुनकर कोप न करे और उन बातों की कदापि उपेक्षा न करे। जो राजा ऐसा नहीं करता वह भी निन्दा का पात्र होता है। तात्पर्य यह है कि अवश्य कहना हितैषी सेवक का कर्तव्य है और अवश्य सुनना राजा (स्वामी) का कर्तव्य है। (२) सर्वसम्पत्सिद्धि रूप कार्य के द्वारा राजा और अमात्य मे ऐकमत्य रूप कारण का समर्थन होने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है—देखिए मल्लिनाथ। यहाँ कुछ लोग काव्यलिङ्ग अलंकार मानते हैं। (३) संशृणुते के पहले नञ् के न होने से 'अस्थानपदता' दोष है। द्वितीय चरण में 'हितं' पद का अध्याहार आवश्यक होने से 'न्यूनपदता' दोष है।

घण्टापथ—स इति। यः सखा अमात्यादिः। **अधिपं** स्वामिनम्। **साधु** हितम्। **न शास्ति** नोपदिशति। 'ब्रु विशासि' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद्

द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा दुर्मन्त्रीत्यर्थः । "किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी । हितात् आप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानात् पञ्चमी । न संश्रृणुते न शृणोति हितमिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि' इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स हितमश्रोता । कुत्सितः प्रभुः किम्प्रभुः कुत्सितस्वामी । पूर्ववत् समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्य श्रोतव्यं च स्वामिना । एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति । हि यस्मात् । नृपेषु स्वामिषु । अमा सह भवा अमात्यास्तेषु अमात्येषु च । 'अव्ययात्त्यप्' । अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु । सर्वसम्पदः सदा रतिम् अनुरागम् । कुर्वते कुर्वन्ति । न जातु जहतीत्यर्थः । अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतद-श्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धैरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तम्—"सामान्यविशेषकार्यकारण-भावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः" इति ॥ ५ ॥

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥ ६ ॥

अ०—निसर्गदुर्बोधं भूपतीनां चरितं क्व? अबोधविक्लवाः (मादृशाः) जन्तवः क्व? (तथापि) विद्विषां निगूढतत्त्वं नयवर्त्म यत् मया अवेदि, अयं तव अनुभावः ।

श०—निसर्गदुर्बोधं = स्वभाव से ही दुर्बोध (कठिनता से जानने योग्य, समझने में कठिन) । भूपतीनां चरितं = राजाओं का चरित्र (व्यवहार, आचरण, नीति) । क्व = कहाँ । अज्ञानविक्लवाः = अज्ञान से अभिभूत (उपहत), अज्ञान से नष्ट हुई बुद्धि वाले, अज्ञानपूर्ण, अज्ञानी, अविवेकी । जन्तवः क्व = (मुझ जैसे) प्राणी (जीव, पुरुष) कहाँ । विद्विषां = शत्रुओं (दुर्योधन इत्यादि कौरवों) का । निगूढतत्त्वं = अत्यन्त गुप्त तत्त्व (रहस्यों)

वाला, अत्यन्त रहस्यात्मक। नयवर्त्म = नीतिमार्ग राजनीति का मार्ग। यत् = जो। मया अवेदि = मेरे द्वारा जाना गया। अयं = यह। तव अनुभावः = आप (राजा युधिष्ठिर) का प्रभाव (प्रताप, महिमा) है।

अनुवाद—स्वभाव से ही दुर्बोध (कठिनता से जानने योग्य, समझने में कठिन) राजाओं का चरित्र (आचरण) कहाँ? (और मेरे जैसे) अज्ञानी (अज्ञान से नष्ट हुई बुद्धि वाले) पुरुष (प्राणी) कहाँ (दोनों में महान् अन्तर है—आकाश और पाताल का अन्तर है)। शत्रुओं (दुर्योधन इत्यादि कौरवों) के अत्यन्त रहस्यपूर्ण राजनीति-मार्ग को जो मैं जान पाया यह आप (राजा युधिष्ठिर) का ही प्रभाव (प्रताप) है।

सं० व्या०—अस्मिन् श्लोके राज्ञां चरित्रस्य दुर्ज्ञेयत्वं तथा गुप्तचरस्य किरातस्य विनयशीलत्वं अभिमानराहित्यं च प्रतिपादितम्। राज्ञां (महीपतीनां) चरित्रं स्वभावादेव दुर्ज्ञेयं विद्यते। बुद्धिमन्तोऽपि जनाः राज्ञां चरित्रं ज्ञातुं न शक्नुवन्ति (समर्थाः न भवन्ति)। मादृशां सामान्यजनानां तु कथैव का! तथापि शत्रूणाम् अत्यन्तं रहस्यात्मको राजनीतिमार्गो यो मया ज्ञातः सः भवतः एव प्रभावः। भवतः प्रभावेणैव कठिनमपि एतत् कार्यं मया कृतम्। अत्र मम किञ्चिदपि सामर्थ्यं चातुर्यं वा न विद्यते।

समासः—निसर्गेण दुर्बोधं निसर्गदुर्बोधम् (तत्पु०)। भुवः पतिः भूपतिः तेषाम् (तत्पु०)। न बोधः अबोधः (नञ् समास), अबोधेन विक्लवाः अबोध-विक्लवाः (तत्पु०)। निगूढं तत्त्वं यस्य तत् निगूढतत्त्वम् (बहु०)। नयस्य वर्त्म नयवर्त्म (तत्पु०)।

व्या०—अवेदि–विद्+लुङ्, अन्यपुरुष, एकवचन, कर्मवाच्य।

अनुभावः—अनु+भू+घञ्।

टि०—"मैं आपके प्रभाव से ही शत्रु के भेद को जान पाया" इस कथन से गुप्तचर किरात की निरभिमानता (अहंकार शून्यता) सूचित होती है। (२) इस श्लोक से गुप्तचर की महती योग्यता का भी पता चलता है। वह शत्रुओं के अत्यन्त गुप्त रहस्यों को जानकर हस्तिनापुर से वापिस आया है।

(३) 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः' (रघुवंश) कालिदास के इस कथन का प्रभाव यहाँ स्पष्टतः दिखलाई पड़ रहा है। (४) दो पदार्थों में अत्यधिक विषमता का प्रतिपादन होने से विषम अलंकार है।

घण्टापथ—निसर्गेति। निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम्। 'ईषद्दुः' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। **भूपतीनां चरितं** चरित्रम् **क्व**? **अबोधविक्लवा** अज्ञानोपहता **जन्तवः**। मादृशाः पामरजना इत्यर्थः। **क्व**। नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः। तथापि **निगूढतत्त्वं** संवृतयाथार्थ्यं **विद्विषां नयवर्त्म** षाड्गुण्यप्रयोगः। 'सन्धिविग्रह-यानानि संस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्'। इत्यादिरूपो **यन्मया अवेदि** ज्ञातमिति यावत्। विदेः कर्मणि लुङ्। **अयम्** इदं वेदनमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गनिर्देशः। **तवानुभावः** सामर्थ्यम्। अनुगतो भावः अनुभावः इति घञन्तेन प्रादिसमासः। न तूपसृष्टाद् घञ् प्रत्ययः। श्रिणीभुवोऽनुपसर्गाद् भवतेर्धातोर्घञ् विधानात्। अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमास' इति। दोषपरिहारौ सम्यग् ज्ञात्वैव विज्ञापयामि। न तु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः॥ ६॥

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥ ७॥

अ०—सुयोधनः नृपासनस्थः अपि वनाधिवासिनः भवतः पराभवं विशङ्कमानः दुरोदरच्छद्मजितां जगतीं नयेन जेतुं समीहते।

श०—**सुयोधनः** = दुर्योधन (धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र)। **नृपासनस्थः अपि** = राजसिंहासन पर बैठा हुआ (आरूढ, प्रतिष्ठित) हुआ भी। **वनाधिवासिनः भवतः** = वन में निवास करने वाले (वन में रहने वाले, राज्यभ्रष्ट) आप (राजा युधिष्ठिर) से। **पराभवं** = पराजय की (को)। **विशङ्कमानः** = शङ्का करता हुआ, भय करता हुआ। **दुरोदरच्छद्मजितां** = जुए (द्यूतक्रीडा, दुरोदर) के बहाने (कपट, छल) से जीती हुई। **जगतीं** =

भूमि (पृथ्वी) को, राज्य को। नयेन = नीति द्वारा। जेतुं समीहते = जीतना (वश में करना) चाहता है, जीतने की अभिलाषा करता है, जीतने का प्रयास करता है।

अनु०—राजसिंहासन पर स्थित (आरूढ, प्रतिष्ठित) होता हुआ भी दुर्योधन वन में निवास करने वाले (वन में रहने वाले, राज्यभ्रष्ट) आप से पराजय की शङ्का करता हुआ द्यूतक्रीडा (जुए) के बहाने (कपट, छल) से जीती हुई पृथ्वी (राज्य) को अब नीति से जीतना चाहता है (नीति से जीतने का प्रयास कर रहा है, अभिलाषा कर रहा है)।

सं० व्या०—धृतराष्ट्रस्य ज्येष्ठपुत्रः दुर्योधनः यद्यपि अधुना राजसिंहासनारूढः वर्तते, सर्वाधिकारसम्पन्नोऽयं सर्वविधं सुखमनुभवति तथापि वनवासिनः भवतः (युधिष्ठरात्) सः पराजयं विशङ्कते। वनवासस्य अवधिः यदा समाप्तिं गमिष्यति तदा भवान् (युधिष्ठिरः) स्वकीयं राज्यं पुनर्ग्रहीष्यति इति मनसि कृत्वा सः चिन्तितः (चिन्ताकुलः) वर्तते। अतएव पुरा द्यूतछलेन लब्धां महीम् (राज्यम्) इदानीं सः सुनीत्या प्रजापालनेन वशीकर्तुं यतते।

स०—सुखेन युध्यते इति सुयोधनः। नृपस्य आसने तिष्ठतीति नृपासनस्थः (तत्पु०, उपपद समास)। वनम् अधिवसतीति वनाधिवासी तस्मात् (उपपद समास)। दुष्टमुदरं यस्य तत् दुरोदरम् (बहु०), तस्य छद्म दुरोदरछद्म (तत्पु०), दुरोदरछद्मना जितां दुरोदरछद्मजिताम् (तत्पु०)।

व्या०—वनाधिवासिनः—वन + अधि + वस् + णिनिः। विशङ्कमानः—वि + शङ्क् + शानच्। समीहते—सम् + ईह् + लट्, अन्यपुरुष, एकवचन। वनाधिवासिनः और भवतः में पञ्चमी 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' सूत्र से हुई।

टि०—(१) द्यूतक्रीडा के छल से प्राप्त राज्य को दुर्योधन किस प्रकार स्थायी रूप से अपने अधीन करना चाहता है—इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह किन-किन उपायों को कर रहा है—यह गुप्तचर किरात इस श्लोक से कहना प्रारम्भ करता है। प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन की सावधानी और चतुरता का प्रतिपादन किया गया है। राज्य प्राप्त करके भी दुर्योधन चुपचाप नहीं

बैठा है। वह अपनी प्रजा के ऊपर न्यायपूर्वक शासन करके, प्रजा को प्रसन्न करके प्रजा के हृदय को जीतना चाहता है। जिस राजा से प्रजा प्रसन्न होती है उस राजा को अपदस्थ करना कठिन होता है। अतएव पुनः राज्य-प्राप्ति के लिए युधिष्ठिर को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। 'सुयोधनः' शब्द का प्रयोग करके गुप्तचर यह भी संकेत करता है कि निराश होने की कोई बात नहीं है—दुर्योधन के साथ सरलता से युद्ध किया जा सकता है और उसे हराकर पुनः राज्य प्राप्त करना कोई असंभव कार्य नहीं है (२) पूर्ववर्ती वाक्य के कथन का उत्तरवर्ती वाक्य के कथन के द्वारा हेतुनिर्देशपूर्वक समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है।

घण्टापथ—विशङ्कमान इति। सुखेन युध्यते **सुयोधनः**। 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः'। **नृपासनस्थः** सिंहासनस्थोऽपि। वनमधिवसतीति तस्माद् **वनाधिवासिनः** राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः। भवतस्त्वत्तः **पराभवं** पराजयं **विशङ्कमानः** उत्प्रेक्षमाणः सन्। दुष्टमुदरमस्येति **दुरोदरम्** द्यूतम्। पृषोदरादित्वात् साधुः। 'दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः। तस्य **छद्मना** मिषेण **जितां** लब्धां दुर्नयार्जितां-**जगतीं** महीम्। 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती। **नयेन** नीत्या **जेतुं** वशीकर्तुं **समीहते** व्याप्रियते। न तूदास्त इत्यर्थः। बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमञ्च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनसः समाधिरिति भावः। अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणपदार्थस्य चतुर्थपदार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासाद् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तम्—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्॥ ७॥

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ ८॥

अ०—तथापि जिह्मः सः भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति। भूतिं समुन्नयन् महात्मभिः समं विरोधः अपि अनार्यसंगमात् वरम्।

श०—तथापि = तो भी (अर्थात् पराजय की आशङ्का करता हुआ भी)। जिह्मः सः = कुटिल (वञ्चक) वह (दुर्योधन)। भवज्जिगीषया = आप को

जीतने की इच्छा से (अर्थात् अपने गुणों से आप युधिष्ठिर को आक्रान्त करने की इच्छा से) । गुणसम्पदा = दानदाक्षिण्यादि गुणसम्पत्ति (गुणों की गरिमा, गुणों के वैभव) के द्वारा । शुभ्रं यशः = निर्मल (धवल, स्वच्छ) कीर्ति को । तनोति = फैला रहा है । भूतिं समुन्नयन् = ऐश्वर्य (समृद्धि, उत्कर्ष) को बढ़ाता हुआ (बढ़ाने वाला) (यह विरोध का विशेषण है) । महात्मभिः समं विरोधः अपि = महात्माओं (महापुरुषों, सज्जनों, श्रेष्ठ पुरुषों) के साथ विरोध (शत्रुता, विद्वेष) भी । अनार्यसंगमात् = दुष्टों (दुर्जनों, नीचों) की मित्रता (संसर्ग, साथ) से । वरम् = श्रेष्ठ, अच्छा ।

अनु०—तथापि (अर्थात् पराजय की आशङ्का करता हुआ भी) वह कुटिल दुर्योधन आप को जीतने की अभिलाषा से (अर्थात् सद्गुणों से आप युधिष्ठिर को आक्रान्त करने की इच्छा से, आपको पराजित करने की इच्छा से) दानदाक्षिण्यादि गुणों की गरिमा के द्वारा अपने निर्मल यश (कीर्ति) को फैला रहा है । ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला, महात्माओं के साथ विरोध भी, दुष्टों की मित्रता की अपेक्षा श्रेष्ठ (अच्छा) होता है ।

व्या०—दानदाक्षिण्यादिसद्गुणैः सः वञ्चकः भवन्तं युधिष्ठिरमतिक्रमितुमिच्छति इति प्रतिपादितमत्र । भवतः पराजयमाशङ्कमानोऽपि सः कुटिलः दुर्योधनः दानदाक्षिण्यादीनां गुणानां गरिम्णा भवन्तं जेतुमिच्छति—पुरा द्यूतक्रीडाछलेन भवदीयं राज्यं स हृतवान् अधुना सः भवन्तं गुणैः जेतुमिच्छति । महात्मना भवता सह विरोधं कृत्वा सः निन्दनीयः न भवति यतः सज्जनैः सह विरोधः अपि दुर्जनसंसर्गापेक्षया श्रेष्ठः भवति । सज्जनविरोधेन (सज्जनस्पर्धया) पुरुषस्य उन्नतिरेव भवति—अनेन पुरुषः समृद्धिमेव लभते ।

स०—जेतुमिच्छा जिगीषा । भवतः जिगीषा भवज्जिगीषा (तत्पु०), तया भवज्जिगीषया । गुणानां सम्पदा (तत्पु०) । न आर्यः अनार्यः (नञ् समास), अनार्यस्य संगमात् इति अनार्यसंगमात् (तत्पु०) । महान् आत्मा येषां ते महात्मानः तैः महात्मभिः (बहु०) ।

व्या०—जिगीषया—जि + सन् अ + टाप्, हेतौ तृतीया । तनोति—

तन् + लट्। **समुन्नयन्**—सम् + उत् + नी + शतृ। 'महात्मभिः' में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से तृतीया हुई।

टि०—(१) दुर्योधन बड़ा कुटिल है। द्यूतक्रीड़ा के छल से उसने आप के राज्य को तो हड़प ही लिया, अब वह सद्गुणों के द्वारा भी आप का अतिक्रमण करना चाहता है। वह आप को सर्वत्र नीचा दिखलाना चाहता है। वह चाहता है कि प्रजा आप की अपेक्षा उसे अधिक गुणवान् समझे, उसमें अधिक अनुरक्त हो। आप के साथ विरोध करने से उसे लाभ ही हुआ। यदि वह आप के साथ विरोध न करता तो वह दान, दया, दाक्षिण्यादि गुणों को अपना कर धवल कीर्ति कैसे अर्जित करता? सच है महापुरुषों के साथ शत्रुता करना भी दुर्जनों की मित्रता की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। (२) सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

घण्टापथ—तथापीति। **तथापि** साशङ्कोऽपि। **जिह्मो** वक्रः। वञ्चक इति यावत्। स दुर्योधनो **भवज्जिगीषया गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः**। 'हेतौ' इति तृतीया। **गुणसम्पदा** दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा करणेन। **शुभ्रं यशः तनोति**। स खलो गुणलोभनीयां त्वत्सम्पदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः। नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गलाभे नीचसङ्गमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति। तथाहि **भूतिं समुन्नयन्** उत्कर्षमापादयन्। 'लटः शतृशानचौ' इत्यादिना शतृप्रत्ययः। पुनर्लङ्ग्रहणसामर्थ्यात् प्रथमासामानाधिकरण्यम्। **महात्मभिः समं** सहेत्यर्थः। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। **अनार्यसङ्गमात्** दुर्जनसंसर्गात्। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। **विरोधोऽपि वरं** मनाक्प्रियः। 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये' इत्यमरः। अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य। 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात् समाप्तपुनरात्ताख्यानदोषापत्तिः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे 'समाप्तपुनरादानात् समाप्तपुनरात्तकम्' इति। न च वाक्यान्तरमेतत्, येनोक्तदोषपरिहारः स्यात्। **अर्थान्तरन्यासालङ्कारः**। स च भूतिं समुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥८॥

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

अ०—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुन अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तं दिवं विभज्य नयेन पौरुषं वितन्यते।

श०—**कृतारिषड्वर्गजयेन** = (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन आन्तरिक) छः शत्रुओं के समूह के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने वाले (यह 'तेन' का विशेषण है)। **अगम्यरूपां** = (साधारण मनुष्यों के द्वारा) अलभ्य (दुष्प्राप्य) है स्वरूप जिसका ऐसी, दुर्गम, दुर्लभ। **मानवीं** = स्मृतिकार मनु के द्वारा बतलाई गई (उपदिष्ट, चलाई गई)। **पदवी** = (प्रजापालन की) पद्धति (नीति, रीति, विधि) को। **प्रपित्सुना** = प्राप्त करने की इच्छा (अभिलाषा) करने वाले (तेन)। **अस्ततन्द्रिणा** = समाप्त हो गई है तन्द्रा जिसकी ऐसे, तन्द्रारहित, आलस्यविहीन। **तेन** = उस (दुर्योधन) के द्वारा। **नक्तं दिवं विभज्य** = रात और दिन का विभाजन (विभाग) करके, अमुक समय में अमुक कार्य करना है, अमुक कार्य नहीं—इस प्रकार कार्य के अनुसार रात और दिन (अर्थात् समय) का विभाजन करके। **नयेन** = नीति से। **पौरुषं वितन्यते** = पुरुषार्थ (उद्योग) का विस्तार किया जा रहा है, निरन्तर उद्योग किया जा रहा है।

अनु०—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन अन्तःस्थित) छः शत्रुओं के समूह के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने वाले (अर्थात् इनको अपने अधीन कर लेने वाले), (साधारण मनुष्यों के लिए) अगम्य (दुष्प्राप्य) है स्वरूप जिसका ऐसी मनुप्रोक्त (स्मृतिकार मनु के द्वारा उपदिष्ट) पद्धति (प्रजापालन की नीति) को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले (अर्थात् मनुप्रोक्त नीति का अनुसरण करने की अभिलाषा वाले) और आलस्य (तन्द्रा) का परित्याग कर देने वाले (आलस्य को तिलाञ्जलि दे देने वाले अर्थात् आलस्यरहित) उस (दुर्योधन) के द्वारा रात और दिन का विभाजन करके

(ये कार्य दिन में करने योग्य हैं और ये रात में इस प्रकार विभाग करके) नीति से अपने पुरुषार्थ (उद्योग) का विस्तार किया जा रहा है।

सं० व्या०—धृतराष्ट्रस्य ज्येष्ठपुत्रः सः दुर्योधनः कामक्रोधादिशत्रुसमूहं विजित्य अतीव विनीतः जातः। साधारणजनैरगम्यस्वरूपां मनूपदिष्टां प्रजापालन-नीतिमनुसर्तुं सः इच्छति। कार्यभारस्य आधिक्यात् सर्वेषां कार्याणां युगपत् सम्पादनमसम्भवमिति कृत्वा 'अस्मिन् समये इदं कार्यं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यम्' इति अहोरात्रयोः समयस्य विभाजनं (विभागं) कृत्वा निरलसः सः सर्वाणि कार्याणि नीतिशास्त्रानुसारेण सम्पादयति।

स०—षण्णां वर्गः षड्वर्गः (तत्पु०), अरीणां षड्वर्गः अरिषड्वर्गः (तत्पु०), कृतः अरिषड्वर्गस्य जयः येन सः कृतारिषड्वर्गजयः (बहु०) तेन अरिषड्वर्गजयेन। न गम्यम् इति अगम्यम् (नञ् समास) अगम्यं रूपं यस्याः सा अगम्यरूपा ताम् अगम्यरूपाम् (बहु०)। नक्तं च दिवा च इति नक्तन्दिवम् (द्वन्द्व) अस्ता तन्द्रिः यस्य सः अस्ततन्द्रिः तेन अस्ततन्द्रिणा (बहु०)।

व्या०—मानवीं—मनोरियं मानवी, ताम्; मनु + अण् + ङीप्। **प्रपित्सुना**—प्रपत्तुम् इच्छुः प्रपित्सुः तेन; प्र + पद् + सन् + उः। विभज्य—वि + भज् + क्त्वा—ल्यप्। वितन्यते—वि + तन् + लट् कर्मवाच्य।

टि०—(१) दुर्योधन आदर्श राजा बन गया है। दुर्गुणों का परित्याग करके यह सद्गुणों से सम्पन्न हो गया है। स्मृतिकार मनु के द्वारा उपदिष्ट नीति से वह प्रजा का शासन कर रहा है। आलस्य का परित्याग करके वह रात-दिन उद्योग कर रहा है। नीति और उद्योग का जोड़ा है। उद्योग के बिना नीति विधवा स्त्री के समान है। इस प्रकार वह प्रजा को अपने अनुकूल करने का पूरा-पूरा प्रयत्न कर रहा है जिससे प्रजा आप लोगों को भूल जावे। (२) द्वितीय चरण में पकार की और चतुर्थ चरण में नकार की कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

घण्टापथ—कृतेति। षण्णां वर्गः षड्वर्गः। अरीणामन्तःशत्रूणां काम-क्रोधादीनां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः। शिवभागवतवत्समासः। तस्य जयः कृतो येन तेन

तथोक्तेन कृतारिषड्वर्गजयेन विनीतेनेत्यर्थः। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः। अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम्। मनोरिमां मानवीम्। मनूपदिष्ट सदाचारक्षुण्णामित्यर्थः। पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना। प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। 'सनिमीमा'-इत्यादिना सादेशः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेन अस्ततन्द्रिणा अनलसेनेत्यर्थः। तदिः सौत्रो धातुः। तस्माद् 'वङ्क्रचादयश्च' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्य' इति। 'वन्दी घटीतरीतन्द्री' इति ङीषन्तोऽपि इति क्षीरस्वामी। तथा रामायणे प्रयोगः 'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति। तेन दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः। उद्योग इति यावत्। युवादित्वादण्प्रत्ययः। 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् अहोरात्रयोरित्यर्थः। 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरद्वयोर्द्वन्द्वनिपातेऽच्समासान्तः। विभज्य अस्यां वेलायाम् इदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यते विस्तार्यते॥ ९॥

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥१०॥

अ०—गतस्मयः स. अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीन् इव सुहृदः च बन्धुभिः समानमानान् इव, बन्धुतां च कृताधिपत्याम् इव सन्ततं साधु दर्शयते।

श०—गतस्मयः = विनष्ट हो गया है अभिमान (अहंकार, घमण्ड) जिसका ऐसा, घमण्डरहित, अभिमानरहित। सः = वह (दुर्योधन)। अनुजीविनः = सेवकों (भृत्यों, अनुचरों) को। प्रीतियुजः सखीन् इव = प्रेम से युक्त (स्नेहशील, स्नेहयुक्त) मित्रों की तरह (समान, तुल्य)। सुहृदः च = और मित्रों को। बन्धुभिः समानमानान् इव = बन्धुओं (भ्राता इत्यादि) के समान सत्कार (सम्मान, आदर) वाले। बन्धुतां च = और बन्धुसमूह (बन्धुजनों) को। कृताधिपत्याम् इव = किया है आधित्य जिन्होंने

ऐसे राज्यग्रहण किये हुए अधिपति के समान, राज्य के अधिपति (स्वामी) के समान। सन्ततं = निरन्तर, सर्वदा। साधु = अच्छी तरह। दर्शयते = प्रदर्शित करता है, दिखलाता है।

अनु०—अभिमानरहित वह (दुर्योधन) सेवकों को प्रेमयुक्त मित्रों की और मित्रों को बन्धुजनों की तरह समान सम्मान वाला तथा बन्धुजनों को राज्यग्रहण किए हुए अधिपति के समान सदैव (निरन्तर) अच्छी तरह से दिखलाता है (प्रदर्शित करता है) [अर्थात् दुर्योधन सेवकों के साथ मित्र की तरह, मित्रों के साथ बन्धु की तरह और बन्धुजनों के साथ अपने समान |धिपति की तरह) व्यवहार करता है]।

सं० व्या०—सेवकमित्रबन्धजनान् प्रति अतीव सम्मानपूर्णः व्यवहारः दुर्योधनस्येति प्रतिपाद्यतेऽस्मिन् श्लोके। अहंकारशून्यः दुर्योधनः सेवकान् प्रति तथा व्यवहरति यथा जनाः मित्राणि प्रति व्यवहरन्ति। मित्राणि प्रति स तथा व्यवहरति यथा जनाः भ्रात्रादीन् प्रति व्यवहरन्ति। भ्रात्रादीन् प्रति सः तथा व्यवहरति यथा ते भ्रात्रादयः स्वकीयमाधिपत्यं मन्यन्ते। अर्थात् अतिविनम्रः दुर्योधनः सेवकैः सह मित्रवत्, मित्रैः सह बन्धुवत्, बन्धुभिः सह आत्मवत् व्यवहरति। सर्वान् प्रति सम्मानाधिक्यप्रदर्शनेन दुर्योधने सर्वेषां जनानां प्रीतिः जाता। सर्वेषां जनानां सः प्रियः जातः।

स०—गतः स्मयः यस्मात् स गतस्मयः (बहु०)। प्रीत्या युज्यन्ते इति प्रतियुजः तान् (उपपदसमास)। समानः मानः येषां ते समानमानाः तान् (बहु०)। शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः, तान् (बहु०)। कृतम् आधिपत्यं यस्याः सा कृताधिपत्या, ताम् (बहु०)।

व्या०—बन्धुतां—बन्धूनां समूहः बन्धुता, ताम्। बन्धु + तल् + टाप् स्त्रियाम्। दर्शयते—दृश् + णिच् लट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) जो व्यक्ति जिस योग्य है उसका उससे अधिक सम्मान करके दुर्योधन सब लोगों का प्रिय बनता जा रहा है। वह सबको अपने अनुकूल बना रहा है। गुप्तचर यह संकेत कर रहा है कि सम्पूर्ण प्रजा दुर्योधन में अनु-

रक्त है। अतः दुर्योधन को हराना सरल कार्य नहीं होगा। इसके लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। (२) 'दर्शयते' (दिखलाता है, प्रदर्शित करता है) पद के द्वारा महाकवि ने दुर्योधन की चालाकी और बनावटीपन को अभिव्यक्त किया है। दुर्योधन बड़ा कुटिल है किन्तु प्रजा को प्रसन्न करने के लिए वह सबके साथ बहुत अच्छा व्यवहार कर रहा है। (३) उपमा अलंकार। कुछ लोग चतुर्थ चरण में उत्प्रेक्षा मानते हैं। सकार, नकार इत्यादि की अनुवृत्ति होने के कारण अनुप्रास अलंकार भी है।

घण्टापथ—सखीनिवेति। गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः सन्ततम् अनारतं साधु सम्यक् अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनः भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान् सखीनिव मित्राणीव। दर्शयते। लोकस्येति शेषः "हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभनं हृदयं येषां तान सुहृदो मित्राणि च। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। बन्धुभिः भ्रात्रादिभिः। समानमानान् तुल्यसत्कारान् दर्शयते। बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम्। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते। बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः। यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान् सम्भावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनाम "कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम्। पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन् सख्यादीनिव दर्शयते। सख्यादय इव ते नु तं पश्यन्ति। सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते। स्वयमेव छन्दानुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम्। अणिकर्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम् एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे। भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम् यथाह—'पश्यन्ति भृत्या राजानम्', 'दर्शयते भृत्यान् राजा', 'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति इति। अत्राह कैयटः—ननु कर्मान्तरमद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम्। उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद् भाष्यकारस्यायमेव

अभिप्राय उद्यते। अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावा-दात्मनेपदं न भवति। यथा 'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति। इह त्वण्यन्ता-वस्थायां कर्तृणां भृत्यानां णौ कर्मत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमिति ॥ १० ॥

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

अ०—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्परं न बाधते।

श०—यथायथ=ठीक-ठीक, समुचित रूप से, उचित प्रकार से। विभज्य= विभाग (विभाजन) करके। समपक्षपातया = समान रूप (दृष्टि) से तुल्य पक्षपात वाली। भक्त्या=भक्ति से, प्रेम से, अनुराग से। असक्तम् = आसक्ति रहित होकर, किसी को भी व्यसन के रूप में न अपनाकर। आराधयतः = सेवन करते हुए। अस्य=इस (दुर्योधन) का। त्रिगणः=तीन (धर्म, अर्थ, काम) का समूह, धर्म अर्थ-कामरूप पुरुषार्थ, त्रिवर्ग। गुणानुरागात् = (दुर्योधन के) गुणों के प्रति अनुराग होने से। सख्यम् = मित्रता को। ईयिवान् इव = प्राप्त हुआ जैसा। परस्परं = एक दूसरे को। न बाधते = बाधा नहीं पहुँचाता, पीड़ित नहीं करता, रुकावट (व्यवधान) पैदा नहीं करते।

अनु०—यथोचित विभाजन करके समान पक्षपात वाले अनुराग से अना-सक्त भाव से सेवन करते हुए इस (दुर्योधन) के तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम) मानों उसके गुणों में अनुराग होने के कारण मित्रता को प्राप्त हुए से एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते (रुकावट पैदा नहीं करते)।

सं० व्या०—दुर्योधनः धर्मार्थकामरूपस्य त्रिवर्गस्य समानानुरागेण सेवनं करोतीति प्रतिपाद्यतेऽस्मिन् श्लोके। अस्मिन् संसारे धर्मार्थकाममोक्षरूपाः चत्वारः पुरुषार्थाः विद्यन्ते। मोक्षरूपः चतुर्थः पुरुषार्थस्तु संसारिभिः सामान्यजनैः प्रायः न काम्यते। जनाः धर्मार्थकामरूपस्य पुरुषार्थत्रयस्यैव सेवनं कुर्वन्ति। यद्यपि एते त्रयः पुरुषार्थाः परस्परं विरोधिनः विद्यन्ते तथापि 'अस्मिन् समये धर्मः आचरणीयः अस्मिन् समये अर्थः अर्जनीयः, अस्मिन् समये कामः सेवनीयः' एवं रूपेण एतेषां

धर्मार्थकामानां सेवनसमयं विभज्य दुर्योधनः निर्लिप्तः सन् तुल्यानुरागेण तान् धर्मार्थकामान् सेवते। एतेषु एकतमे अत्यासक्तिः न तस्य वर्तते। तस्मात् ते परस्परं बाधकाः न सन्ति। धर्माचरणसमये अर्थकामौ न बाधेते। अर्थोपार्जनसमये धर्मकामौ न बाधेते। कामसेवनसमये धर्मार्थौ न बाधेते। दुर्योधनस्य दयादान-दाक्षिण्यादिसद्गुणैः आकृष्टाः इव ते धर्मार्थकामाः तत्र (दुर्योधने) बहुकालपर्यन्तं अवस्थानमिच्छन्तः परस्परं स्नेहेन वसन्ति।

स०—पक्षे पातः पक्षपातः (तत्पु०), समः पक्षपातः यस्यां सा समपक्षपाता तया (बहु०)। न सक्तम् असक्तम् (नञ् समास)। त्रयाणां गणः त्रिगणः (तत्पु०)। गुणेषु अनुरागः गुणानुरागः, तस्मात् (तत्पु०)।

व्या०—विभज्य–वि + भज् + क्त्वा–ल्यप्। असक्तम्–नञ् + सञ्ज् + क्त; असक्तं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषण)। आराधयतः—आ + राध् + शतृ + षष्ठी, एकवचन। ईयिवान्—ई + लिट् क्वसु, प्रथमा, एकवचन।

टि०—(१)—दुर्योधन की नीति समन्वयवादिनी है। धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का समान भाव से दुर्योधन सेवन करता है। वह इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं करता और न किसी एक में उसकी अत्यासक्ति है। 'इस समय धर्म का आचरण करना चाहिए, इस समय अर्थ (धन) का उपार्जन करना चाहिए, इस समय काम का सेवन करना चाहिए' इस प्रकार का निश्चय उसने कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्योधन के सद्गुणों से आकृष्ट होकर ये तीनों पुरुषार्थ दुर्योधन के सांनिध्य में बहुत काल तक रहना चाहते हैं। अत एव ये तीनों अपने स्वाभाविक विरोध को छोड़कर परस्पर मित्र हो गए हैं। ये एक दूसरे का विरोध नहीं करते। दुर्योधन जब धर्म का आचरण करता है तब अर्थ और काम बाधा नहीं पहुँचाते, जब वह अर्थ (धन) का उपार्जन करता है तब धर्म और काम बाधा नहीं पहुँचाते, जब वह काम (विषयोपभोग) का सेवन करता है तब धर्म और अर्थ बाधा नहीं पहुँचाते। प्रस्तुत श्लोक में समन्वयवादी भारतीय जीवन का मनोरम चित्रण किया गया है। (२) छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा अलंकार।

घण्टापथ—असक्तमिति। यथायथं यथास्वं विभज्य असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः। 'यथास्वे यथ यथम्' इति निपातनाद् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रतिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। पक्षे पातः पक्षपातः आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तथा समपक्षपातया। भक्त्या अनुरागविशेषेण। पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः। पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति। असक्तमनासक्तम्। अव्यसनितयेति यावत्। आराधयतः सेवमानस्य अस्य दुर्योधनस्य। त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणः त्रिवर्गः। 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थ : चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः। गुणानुरागात् तदीयगुणेष्वनुरागात्। गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः। सख्यं मैत्रीम्। 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः। उपेयिवान् उपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। 'नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म। परस्परं न बाधते। समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त' इत्यर्थः। उक्तं च 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥ ११ ॥

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

अ०—तस्य निरत्ययं साम दानवर्जितं न (प्रवर्तते), भूरि दानं सत्क्रियां विरहय्य न (प्रवर्तते) विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते।

श०—तस्य = उस (दुर्योधन) का। निरत्ययं = निर्बाध (बाधारहित, विघ्नरहित, निर्विघ्न), निष्कपट (पाखण्डरहित)। साम = सान्त्वना, मधुर वचन, सामनीति (साम, दाम, दण्ड, भेद में प्रथम)। दानवर्जितं न=दानरहित नहीं। भूरि दानं=प्रचुर (प्रभूत, बहुत) दान (धन का दान, धन का त्याग)। सत्क्रियां = आदर (सत्कार, सम्मान) को। विरहय्य न = छोड़कर नहीं। विशेषशालिनी = विशेष रूप से सुशोभित होने वाली। गुणानुरोधेन विना = गुणों (विद्या, सदाचार इत्यादि सद्गुणों) के अनुराग (विचार) के बिना। प्रवर्तते = प्रवृत्त नहीं होती है।

अनु०—उस (दुर्योधन) की बाधारहित (अथवा निष्कपट) सामनीति (सान्त्वना, मधुर वचन) दान के बिना प्रवृत्त नहीं होती। उसका प्रचुर दान सत्कार के बिना (सत्कार को छोड़कर) प्रवृत्त नहीं होता। [१]विशेष रूप से सुशोभित होने वाला उसका सत्कार गुणों का विचार किये बिना प्रवृत्त नहीं होता (गुणी का ही वह सत्कार करता है)।

व्याख्या—सः राजा दुर्योधनः राजनीतेः चतुर्विधानामुपायानां (सामदानदण्डभेदानां) प्रयोगे अतीव निपुणोऽस्ति। सामदानयोः प्रयोगे तस्य निपुणता निरूपिता अस्मिन् श्लोके। तस्य सामनीतिप्रयोगः धनदानं विना प्रवृत्तः न भवति। प्रीतः दुर्योधनः स्वकार्यसिध्यर्थं न केवलं मधुरवचनानां प्रयोगं करोति अपितु मधुरवचनैः सह सः धनदानमपि करोति। तस्य दाननीतिप्रयोगः सत्कारं विना प्रवृत्तः न भवति। सत्कारं विना प्रचुरं दानमपि निरर्थकमिति (अनादरे दानवैफल्यमिति) सः जानाति। सः यस्मै धनदानं करोति तस्य सत्कारमपि करोति—सत्कारपूर्वकमेव तस्य दानम्। तस्य सत्कारः अपि गुणानुरागेन प्रवृत्तः भवति। सः गुणिनामेव अतिशयं सत्कारं करोति, न तु गुणविहीनानाम्।

स०—निर्गतः अत्ययः यस्मात् तत् निरत्ययम् (बहु०)। दानेन वर्जितं दानवर्जितम् (तत्पु०)। सत् (आदरः) तस्य क्रिया (तत्पु०)। विशेषेण शालते इति विशेषशालिनी (उपपदसमास)। गुणानाम् अनुरोधेन (तत्पु०)।

व्या०—विरहय्य–वि + रह् + णिच् + क्त्वा–ल्यप्। प्र + वृत् + लट्, अन्यपुरुष, एकवचन। 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' से विना के योग में तृतीया।

टि०—(१) नीतिशास्त्र के अनुसार कार्य-सिद्धि के चार उपाय हैं—साम, दान, दण्ड और भेद। इन चारों उपायों के प्रयोग में दुर्योधन अत्यन्त निपुण है। इस श्लोक में साम और दान के प्रयोग में उसके नैपुण्य का निरूपण किया गया है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि दुर्योधन प्रसन्न होने पर केवल मधुर वचनों का प्रयोग ही नहीं करता अपितु साथ में कुछ धन भी देता है। जिसे देता है उसको सत्कारपूर्वक देता है। सत्कार भी वह गुणों को देखकर करता है। गुणों से समन्वित व्यक्ति का ही वह सत्कार करता है, गुणहीन का नहीं

२) पूर्व-पूर्व के विशेषण के रूप में उत्तर-उत्तर की स्थापना की गई है। अतः यहाँ एकावली अलंकार है।

घण्टापथ—निरत्ययमिति। तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम्। आम्नायिकमित्यर्थः। अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः। साम सान्त्वम्। 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। दानवर्जितं न प्रवर्तते अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैः वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः। उक्तञ्च 'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्ख छन्दानुरोधेन तत्वार्थेन च पण्डितम्' इति। तथा। भूरि प्रभूतम्। न तु कदाचित् स्वल्पमित्यर्थः। दानं धनत्यागः। सदित्यादराथ ऽव्ययम्। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात्। तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशो न प्रवर्तते। अनादरे दानवैफल्यादिति भावः। न चैवं सर्वत्र, येनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रेति। विशेषशालिनी अतिशययोगिनी। सत्क्रिया आदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्तते। 'पृथग्विना०' इत्यादिना तृतीया। गुणेष्वादरो भूरिदानं चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः। अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतयास्थापनादेकावल्यलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्। विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा' इति ॥ १२ ॥

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

अ०—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न (किन्तु) निवृत्तकारणः (सन्) स्वधर्मः एव (एषः) इति गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुते अपि वा धर्मविप्लवं निहन्ति।

श०—वशी = जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को अपने वश (अधीन) में रखने वाला। सः = वह (दुर्योधन)। वसूनि = धन को। वाञ्छन् न = चाहता हुआ नहीं। मन्युना न = क्रोध से नहीं। निवृत्तकारणः = (लोभ, क्रोध इत्यादि) कारणों से रहित होकर। स्वधर्म इति एव = अपना धर्म है—यही

(समझकर)। गुरूपदिष्टेन=गुरुओं (मनु इत्यादि धर्माचार्यों) के द्वारा उपदिष्ट (बतलाये गये)। दण्डेन=दण्ड के द्वारा। रिपौ सुते अपि वा= शत्रु अथवा मित्र में स्थित। धर्मविप्लवं=धर्म (कर्त्तव्य) के व्यतिक्रम (उल्लंघन) को (=अधर्म को)। निहन्ति=नष्ट करता है, निवृत्त करता है, दूर करता है

अनु०—इन्द्रियों को वशं (नियन्त्रण) में रखने वाला वह (दुर्योधन) धन प्राप्त करने की इच्छा से नहीं और न क्रोध से (दण्ड देता है) किन्तु (लोभ, क्रोध इत्यादि) कारणों से रहित होकर 'यह मेरा धर्म है' यही (समझकर) गुरुओं (मनु इत्यादि धर्माचार्यों) के द्वारा बतलाये गए दण्ड के द्वारा शत्रु अथवा मित्र में स्थित धर्मोल्लंघन (अधर्म) का निवारण करता है।

सं० व्या०—दुर्योधनस्य दण्डनीतिप्रयोगः निरूपितः अस्मिन् श्लोके। जितेन्द्रियः सः दुर्योधनः केनापि लोभेन वा क्रोधाभिभूतः वा न कमपि दण्डयति। लोभक्रोधद्वेषादिकारणरहितः सन् 'दुष्टानां दण्डनं साधूनां रक्षणं' नृपाणां धर्मः इति मत्वा सः दुष्टान् दण्डयति। दण्डप्रयोगे सः स्वेच्छाचारी नास्ति। मन्वादिधर्माचार्यैः उपदिष्टेन दण्डेन सः दुष्टान् दण्डयति। दण्डप्रयोगे सः कदापि पक्षपातं न करोति। सः सर्वान् समदृष्ट्या पश्यति। येन केनापि धर्मस्य उल्लंघनं कृत्वा अधर्माचरणं क्रियते स पुरुषः दण्डस्य पात्रं (दण्ड्यः) भवति, सः शत्रुर्वा भवेत् पुत्रो वा।

स०—निवृत्तं कारणं यस्मात् सः (बहु०)। स्वस्य धर्मः स्वधर्मः (तत्पु०) गुरुभिः उपदिष्टेन (तत्पु०)। धर्मस्य विप्लवम् (तत्पु०)।

व्या०—वशः अस्ति अस्य इति वशी। वश+इनिः (मत्वर्थे)। वाञ्छन्-वाञ्छ्+शतृ। निहन्ति—नि+हन्+लट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१)—इस श्लोक में दुर्योधन की दण्डनीति का निरूपण किया गया है। दुर्योधन का मुख्य उद्देश्य प्रजा को प्रसन्न करना है (जिससे प्रजा पाण्डवों को भूलकर उसमें अनुरक्त हो जावे) और वह इस तथ्य को जानता है कि पक्षपात को छोड़कर जो दण्डविधान किया जाता है, वह प्रजा की प्रसन्नता का कारण होता है। अस्तु, दुर्योधन की दण्डनीति की मुख्य विशेषतायें ये हैं—(क) वह लोभ अथवा क्रोध के वशीभूत होकर किसी को दण्ड नहीं देता (ख) दण्ड

के विषय में वह स्वेच्छाचारी नहीं है। मनु इत्यादि धर्माचार्यों के उपदेशों के अनुसार वह दण्ड देता है (ग) दण्ड देने में वह पक्षपात नहीं करता। जिस आधार पर वह शत्रु को दण्ड देता है, उसी आधार पर वह अपने पुत्र को भी दण्ड देता है। जो अपराध करता है वह दण्ड पाता है, चाहे वह कोई भी हो। (२) नकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास अलंकार है।

घण्टापथ—वसूनीति। वशी दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न लोभान्नेत्यर्थः। 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना कोपेन न च। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः। किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन् स्वधर्म इत्येव। स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः। 'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' इति स्मरणादिति भावः। गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन। धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राडविवाकमते स्थितः। समाहितमतिः व्यवहारानुक्रमात्।' इति नारदस्मरणात्। दण्डेन दमेन। शिक्षयेत्यर्थः। रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः। एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम्। धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम्। अधर्ममिति यावत्। निहन्ति निवारयति। दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुः। न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः॥ १३॥

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः॥ १४॥

अ०—शङ्कितः (सन्) परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति। क्रियापवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञतां वदन्ति।

श०—शङ्कितः = संदेहग्रस्त, संदेहयुक्त, आप लोगों से शङ्कित (भयभीत)। **परितः** = चारों ओर, सर्वत्र। **परेतरान्** = आत्मीय जनों को, विश्वासपात्रों को, भेद डालकर शत्रुओं को अपना बना लेने वाले लोगों को। **रक्षान् विधाय** = रक्षक नियुक्त करके। **अशङ्किताकारम्** = सन्देहरहित (शङ्कारहित, भयरहित)

आकार (आकृति) को । उपैति = प्राप्त करता है, धारण करता है, दिखलात है । क्रियापवर्गेषु = कार्यों के समाप्त (पूर्ण) होने पर। अनुजीविसात्कृताः = सेवकों (अनुचरों, भृत्यो) को प्रदान की गई (सौंपी गई, दी गई, सेवकों के अधीन की गई) । सम्पदः = सम्पत्तियाँ, धन । अस्य = इस (दुर्योधन) की । कृतज्ञतां = कृतज्ञता (उपकार की भावना, किए गए परिश्रम को समझने वाली वृत्ति) को । वदन्ति = कहती हैं ।

अनु०—(आप लोगों से) भयभीत (शङ्कित) रहता हुआ वह चारों ओर आत्मीय जनों को रक्षकों के रूप में नियुक्त करके भयरहित (शङ्कारहित, संदेहरहित) आकृति को धारण करता है । (सौंपे गए) कार्यों के पूर्ण (समाप्त) हो जाने पर सेवकों को प्रदान की गई सम्पत्तियाँ (धन) इस (राजा दुर्योधन) की कृतज्ञता को अभिव्यक्त (प्रगट, प्रकाशित) करती हैं ।

व्या०—अस्मिन् श्लोके वनेचरः दुर्योधनस्य भेदकौशलं दर्शयति । दुर्योधनस्य शङ्काभावः सुरक्षाव्यवस्था पारितोषिकादिप्रदानेन कृतज्ञतादिभावाः अप्यत्र प्रतिपादिताः । वञ्चकः दुर्योधनः स्वकीयराज्ये सर्वत्र आत्मीयान् जनान् रक्षकरूपेण नियुज्य निःशङ्कवत् व्यवहरति । सः सर्वदा शङ्कया व्याकुलो वर्तते किन्तु आकृत्या सः शङ्कितो न प्रतिभाति । कर्मणां समाप्तिषु सः सेवकेभ्यः प्रभूतं धनं ददाति । दुर्योधनेन सेवकेभ्यः प्रदत्ताः सम्पत्तयोऽस्य कृतज्ञतां प्रकाशयन्ति ।

स०—परेभ्यः इतरे इति परेतरे तान् (पञ्चमी तत्पु०) अथवा परान् इतरयन्ति इति परेतराः तान् परेतरान् (द्वितीया तत्पु०) । क्रियायाः अपवर्गः क्रियापवर्गः तेषु क्रियापवर्गेषु (षष्ठी तत्पु०) ।

व्या०—विधाय-वि + धा + क्त्वा—ल्यप । उपैति—उप + इ + लट , अन्यपुरुष, एकवचन ।

टि०—मल्लिनाथ ने 'परेतरान्' पद के दो अर्थ किए हैं-(क) आत्मीय जनों को, विश्वास-पात्रों को । दुर्योधन आत्मीय जनों (अपने लोगों) को रक्षक के रूप म नियुक्त करके भयरहित (शङ्कारहित) आकृति को धारण करता है । यद्यपि वह भय से व्याकुल है तथापि आकृति से वह भयभीत प्रतीत नहीं होता

है। (ख) दूसरों (शत्रुओं) में भेद डालकर अपने पक्ष में कर लेने वाले। यह अर्थ प्रसङ्ग के अधिक अनुकूल है। पूर्ववर्ती श्लोकों में साम, दान और दण्ड का निरूपण करके इस श्लोक में दुर्योधन की भेद-नीति का निरूपण किया गया है। दुर्योधन के व्यक्ति शत्रुओं में भेद (फूट) उत्पन्न करके उनको अपने अधिकार में कर लेते हैं-भेद-नीति के द्वारा वे शत्रु-पक्ष को निर्बल बना देते हैं। (२) दुर्योधन के कर्मचारी अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसके कार्यों को सम्पादित करना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि कार्यों के पूर्ण हो जाने पर वह अपने सेवकों को पारितोषिक के रूप में प्रभूत धन प्रदान करता है। (३) रेफ और तकार की अनेक बार आवृत्ति होने से 'वृत्त्यनुप्रास' अलंकार है।

घण्टापथ—विधायेति। शंका सञ्जातास्य शंकितोऽविश्वस्तः सन्। **परितः** सर्वत्र स्वपरमंडले **परेतरान्** आत्मीयान्। अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतरान्। 'तत्करोतीति' ण्यन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। रक्षन्तीति **रक्षान्** रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। 'नन्दिग्रही' त्यादिना पचाद्यच। **विधाय** कृत्वा। नियुज्येत्यर्थः। **अशङ्किताकारम्** उपैति स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन् परमुखेनैव परान् भिनत्तीत्यर्थः। न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति। **क्रियापवर्गेषु** कर्मसमाप्तिषु। **अनुजीविसात्कृता** भृत्याधीनाः कृताः। अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः। 'दये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः। **सम्पदः** अस्य राज्ञः **कृतज्ञताम्** उपकारित्वं **वदन्ति**। प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः। कृतज्ञे राजनि अनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः ॥ १४ ॥

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अ०—तेन पदेषु विभज्य लम्भिताः सम्यग्विनियोगसत्क्रिया उपायाः संघर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पदः अनारतं फलन्ति।

श०—तेन=उस (दुर्योधन) के द्वारा। पदेषु=उचित पदों (स्थानों या व्यक्तियों) में, उपादेय वस्तुओं में। विभज्य= विभाग (विभाजन) करके।

लम्भिताः=प्रयुक्त, प्रयोग किए गए। सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः=उचित विनियोग (प्रयोग) के द्वारा जिनका सत्कार (सम्मान) किया गया है वे; समुचित (ठीक-ठीक) विनियोग (प्रयोग) ही है सत्कार जिनका वे। उपायाः= राजनीति के चार उपाय (साम, दान, दण्ड, भेद)। संघर्षम् उपेत्य इव = मानो परस्पर संघर्ष (स्पर्धाभाव) को प्राप्त करके, परस्पर स्पर्धाभाव को प्राप्त हुए से। परिवृंहितायतीः = विकासशील है भविष्य (आयति) जिनका ऐसी, भविष्य में वृद्धि को प्राप्त होने वाली, स्थिर भविष्य वाली। अर्थसम्पदः = धनधान्यादि सम्पत्तियों को, धन-सम्पत्तियों को, सम्पत्तियों को, धनों को। अनारतं = निरन्तर। फलन्ति = उत्पन्न करते हैं।

अनु०—उस (दुर्योधन) के द्वारा उचित स्थानों में समुचित विभाग करके प्रयुक्त किए गए और उचित प्रयोग (विनियोग) के द्वारा समादृत (सत्कृत, अनुगृहीत) हुए उपाय (साम, दान, दंड, भेद) मानो परस्पर स्पर्धाभाव को प्राप्त हुए-से भविष्य में वृद्धि को प्राप्त होने वाली (स्थिर भविष्य वाली)। धन-सम्पत्तियों को निरन्तर उत्पन्न करते हैं।

सं० व्या०—अस्मिन् श्लोके महाकविः सामदानदण्डभेदानां चतुर्णामुपायानां सम्यक्प्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति। तेन दुर्योधनेन समुचितस्थानेषु यथोचितं विभाजनं कृत्वा सम्यक् प्रयुक्ताः तथा समुचितप्रयोगेण सत्कृताः सामदानदण्ड-भेदरूपाः चत्वारः उपायाः परस्परं स्पर्धमानाः इव तस्मै दुर्योधनाय राज्ञे प्रथितोत्तर-कालाः (स्थिराः) अर्थसम्पत्तीः निरन्तरमुत्पादयन्ति (निरन्तरं तस्मै धनवृद्धिं कुर्वन्ति)।

स०—विनियोगः एव सत्क्रियाः (कर्मधारय) अथवा—विनियोगः सत्क्रिया येषां ते (बहु०)। परिवृंहिता आयतिः यासां ताः परिवृंहितायतीः (बहु०)। अर्थानां सम्पद इति ताः अर्थसम्पदः (तत्पु०) अथवा—अर्थाः एव सम्पदः, ताः अर्थसम्पदः (कर्मधारय)। न आरतम् इति अनारतम् (नञ् समास)।

व्या०—विभज्य—वि + भज् + क्त्वा—ल्यप्। लम्भिताः—लम्भ् + णिच् + क्त। उपेत्य—उप + इ + क्त्वा—ल्यप्। फलन्ति—फल् + लट्, अन्यपुरुष,

बहुवचन। सम्पदः—सम्+पद्+क्विप्, प्रथमा बहुवचन। परिबृंहितायतीः तथा अर्थसम्पदः द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के रूप हैं।

टि०—(१) दुर्योधन भली-भाँति जानता है कि किस कार्य की सिद्धि के लिए किस उपाय का प्रयोग करना चाहिए। उपायों का समुचित प्रयोग ही उपायों का सत्कार है। उपायों के समुचित प्रयोग के कारण ही उसकी सम्पत्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। गुप्तचर यह भी संकेत करना चाहता है कि दुर्योधन को पराजित करना सरल कार्य न होगा। वह निरन्तर अधिक ही अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है। अतः अब उसकी उपेक्षा करना उचित न होगा। उसके पराभव के लिए शीघ्र ही प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए। (२) उत्प्रेक्षा अलंकार।

घण्टापथ—अनारतमिति। तेन राज्ञा पदेषु उपादेयवस्तुषु। 'पदं व्यवसित-त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यक् असङ्कीर्णमन्यस्तं च विभज्य विविच्य। विनियोगसत्क्रियाः विनियोग एव सत्क्रियानुग्रहः सत्कार इति यावत्। यासां ताः। लम्भिताः स्थानेषु सम्यक् प्रयुक्ता इत्यर्थः। उपायविशेषणं वा। उपायाः सामादयः। सङ्घर्षं परस्परस्पर्धाम् उपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा। परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकालाः। स्थिरा इत्यर्थः। अर्थसम्पदः अनारतमजस्रं फलन्ति। प्रसुवत इत्यर्थः॥ १५॥

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः॥१६॥

अ०—नृपोपायनदन्तिनां अयुग्मच्छदगन्धिः मदः अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरं भृशम् आर्द्रतां नयति।

श०—नृपोपायनदन्तिनां = राजाओं के द्वारा उपहार (भेंट) में दिए गए हाथियों का। अयुग्मच्छदगन्धिः = सप्तपर्ण नामक वृक्ष के पुष्प के समान गन्धवाला। मदः = मदजल, (मस्त, मत्त) हाथियों के गण्डस्थल (कनपटी-कपोल) से निकलने वाला (बहने वाला) जल (रस, द्रवविशेष, प्रवाहशील

तरल पदार्थ)। अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं = अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरे हुए। तदीयम् = उस (दुर्योधन) के। आस्थाननिकेतनाजिरं: राजसभा के मण्डप के आगे के आँगन को, सभा-भवन के आँगन को। भृशम्: अत्यधिक, अत्यन्त। आर्द्रतां नयति = गीला (आर्द्र, कीचड़युक्त) करता है।

अनु०—राजाओं के द्वारा उपहार (भेंट) मे दिए गए हाथियों का सप्तपर्ण के पुष्प की गन्ध वाला मदजल अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरे हुए उस (दुर्योधन) के सभा-भवन के आँगन को बहुत अधिक गीला (कीचड़-युक्त) करता है (इससे दुर्योधन का प्रभुत्व ज्ञात होता है)।

व्या०—अनेन श्लोकेन राज्ञः दुर्योधनस्य महासमृद्धिर्निरूप्यते। राज्ञ. दुर्योधनस्य वशवर्तिनः (आयत्तीकृताः) ये राजानः करदानार्थं स्वस्वराज्यात आगताः तेषां राज्ञां रथाश्वसमूहेन तस्य सभामण्डपाङ्गणं सदा व्याप्तमस्ति। तत् प्राङ्गणं नृपोपहारभूतगजानां सप्तपर्णपुष्पसुगन्धियुक्तेन मदजलेन पङ्किलं भवति। अनेन प्रकारेण दुर्योधनस्य प्राङ्गणे सर्वदा पङ्कः वर्तते। अयं पङ्कः दुर्योधनस्य समृद्धिं सूचयति (दुर्योधनस्य अतिशयप्रभावः निरूपितः)।

स०—नृपाणाम् उपायनानि इति नृपोपायनानि (षष्ठी तत्पु०), नृपोपायनानि ये दन्तिनः तेषां नृपोपायनदन्तिनाम् (कर्म०)। न युग्मः अयुग्मः (नञ् समास), अयुग्माः छदाः यस्य सः अयुग्मच्छदः (बहु०), अयुग्मच्छदस्य गन्धः इव गन्धः यस्य असौ अयुग्मच्छदगन्धिः (बहु०)। न एके अनेके (नञ् समास) अनेके राजन्याः अनेकराजन्याः (कर्म०) (राज्ञाम् अपत्यानि पुमांसः क्षत्रियाः) रथाश्च अश्वाश्च रथाश्वम् (समाहार द्वन्द्व), अनेकराजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलम् (षष्ठी तथा तृतीया तत्पु०)। आस्थानस्य निकेतनस्य अजिरम् (षष्ठी तत्पु०)।

व्या०—रथाश्वम्–रथ और घोड़े सेना के अङ्ग हैं। अतः 'द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाऽङ्गानाम्' सूत्र से यह समाहारद्वन्द्व समास एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग है। तदीयम् (= तस्य) –तत् + ईय्। आर्द्रतां–आर्द्रस्य भावः आर्द्रता ताम्, आर्द्र + तल् + टाप्। नयति–नी + लट्।

टि०—(१) इस श्लोक में दुर्योधन की महासमृद्धि का प्रतिपादन किया गया है। राजाओं के द्वारा उपहार में दिए गए हाथियों के मदजल से आँगन का कीचड़युक्त होना और राजाओं के रथों और घोड़ों से आँगन का भरा हुआ होना—इससे दुर्योधन की विशाल सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्पत्ति चारों ओर से उसके पास एकत्र हो रही है। उपहार और कर देने वाले राजाओं से उसका आँगन भरा रहता है। (२) सप्तपर्ण (सप्तच्छद, अयुग्मच्छद) वृक्ष की प्रत्येक डाली में सात पत्ते होते हैं। इसके यह नाम पड़ने का यही कारण है। सप्तपर्ण के पुष्प की गन्ध बड़ी उग्र होती है। यह पुष्प अपने निकटस्थ व्यक्तियों के शिरों में वेदना उत्पन्न कर देता है। (३) नकार की अनेक बार (असकृत्) आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। समृद्धि का वर्णन होने के कारण उदात्त अलंकार भी है।

घण्टापथ—अनेकेति। अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासौ **अयुग्मच्छदगन्धिः**। 'सप्तम्युपमान'—इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः। नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां **नृपोपायनदन्तिनां** मदः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः। 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन्। रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम्। सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन संकुलं व्याप्तं **अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्** **तदीयम्** **आस्थाननिकेतनाजिरं** सभामण्डपाङ्गणं **भृशम्** अत्यर्थम् **आर्द्रतां** पंकिलत्वं **नयति**। एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता। अत **एवोदात्तालङ्कारः**। तथा चालंकारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्त' इति ॥ १६ ॥

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ॥१७॥

अ०—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्या इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः चकासति।

श०—चिराय = दीर्घ (चिर) काल से, बहुत समय से। तस्मिन् = उस (दुर्योधन) के। क्षेम = (प्रजाओं का) कल्याण। वितन्वति (सति) = करते (फैलाते) रहने पर, सम्पादन करते रहने पर। अदेवमातृका = पर्जन्य (बादल, वृष्टि) के ऊपर आश्रित (आधारित, अवलम्बित) न रहने वाला, नहरों के जल के द्वारा सींचा जाने वाला। कुरवः = कुरु देश (जनपद)। अकृष्टपच्या इव = जुताई (कर्षण) के बिना ही पकी हुई सी। कृषीवलैः = किसानों के द्वारा। सुखेन = सुखपूर्वक, आसानी से, परिश्रम के बिना। लभ्याः = प्राप्त होने वाली। सस्यसम्पदः = फसलों की सम्पत्तियों (समृद्धि) को। दधतः = धारण करते हुए। चकासति = सुशोभित हो रहा है।

अ०—बहुत समय से उस (दुर्योधन) के द्वारा (प्रजाओं का) कल्याण करते रहने पर वर्षा के ऊपर आश्रित न रहने वाला (नहरों के जल के द्वारा सींचा जाने वाला) कुरुदेश मानो बिना जुताई के ही पकी हुई (अथवा जुताई के बिना ही पकी हुई सी) किसानों के द्वारा आसानी से प्राप्त होने वाली फसलों की समृद्धि को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

व्या०—प्रजापालनतत्परः दुर्योधनः अन्नवृद्ध्यर्थं राज्ये सर्वत्र कृत्रिमनदी-प्रभृतीनां भूमिसेचनसाधनानां निर्माणं कारयति। एतेषां साधनानां साहाय्येन कुरुदेशः वर्षाजलं विनाऽपि प्रचुरान्नसम्पन्नः वर्तते। कृषिकर्म अतीव सुखसाध्यं लाभप्रदं च विद्यते। दुर्योधनस्य राज्ये ये कृषकाः सन्ति ते प्रयासेन विनैव स्वयं जातानीव सस्यानि लभन्ते। अनेन ते समृद्धाः वर्तन्ते। अन्नप्राचुर्यात् प्रजासु सन्तोषः वर्तते। प्रजानुरञ्जनात् सः दुर्योधनः सुखेन न वश्यः इत्यर्थः।

स०—देवः (पर्जन्यः) माता (मातृवत् उपकारिका) येषां ते देवमातृकाः (बहु०)। न देवामातृकाः अदेवमातृकाः (नञ् समास)। कृष्टे पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः (उपपद समास), न कृष्टपच्याः अकृष्टपच्याः (नञ् समास)। सस्यानां सम्पदः सस्यसम्पदः (तत्पु०) अथवा सस्यानि एव सम्पदः (कर्मधा०)।

व्या०—चिराय—अव्यय। वितन्वति—वि + तन् + शतृ + सप्तमी एकवचन, तस्मिन् का विशेषण, भावे सप्तमी। कषीवलैः—कृषि + वलच्, वलच् प्रत्यय

न्वाद में होने पर ह्रस्व दीर्घ हो गया है। 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्' से सुखेन में तृतीया है। चकासति चकास्+लट्, अन्यपुरुष, बहुवचन।

टि०—(१) प्रजापालन में तत्पर दुर्योधन अन्न की वृद्धि के लिए अपने राज्य में सिंचाई के साधनों-कुओं, नहरों, जलाशयों इत्यादि का निर्माण करा रहा है। सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो जाने से प्रचुर अन्न की उपज हो रही है। किसान लोग अन्न वर्षा के जल पर निर्भर नहीं है। कृषि-कर्म सुखसाध्य और लाभप्रद हो गया है। अन्न की विपुलता होने के कारण प्रजा सुखी है, सन्तुष्ट है। प्रजा दुर्योधन में अनुरक्त है, अतः उसको पराजित करना सरल न होगा। उसको पराजित करने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। (२) 'अकृष्टपच्या इव' में उपमा है। कतिपय विद्वान् उत्प्रेक्षा अलंकार बतलाते हैं।

घण्टापथ—सुखेनेति। चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति। देवः पर्जन्यः माता येषां ते देवमातृकाः वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः ते न भवन्ति इति, 'अदेवमातृका' नदीमातृका इत्यर्थः। 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकाश्च यथाक्रमम्॥' इत्यमरः। एतेनास्य कुल्यादिपूर्तप्रवर्तकत्वमुक्तम्। कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः। कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः। 'राजसूय०'—इत्यादिना कर्मकर्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः। तद्विपरीता अकृष्टपच्याः इव। कृषिर्येषामस्तीति कृषीवलाः तैः कृषीवलैः। कर्षकैरित्यर्थः। 'रजः कृषि०'—इत्यादिना वलच्प्रत्ययः 'वले' इति दीर्घः। सुखेन अक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः। चकासति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते इत्यर्थः। 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः। 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा। सम्पन्नजनपदत्वादसन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः॥ १७॥

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥१८॥

अ०—उदारकीर्तेः दयावतः अभिरक्षया प्रशान्तबाधम् उदयं दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुता मेदिनी स्वयं वसूनि प्रदुग्धे।

शा०—**उदारकीर्तेः** = विशाल कीर्ति (यश) वाले, अति यशस्वी, महा यशस्वी (महान् यश वाले)। **दयावतः** = दयालु (कृपालु), दया (करुणा) से युक्त। **अभिरक्षया** = रक्षा से, रक्षा के द्वारा। **प्रशान्तबाधं** = शान्त (प्रशान्त) हो गई हैं बाधायें जिसमें ऐसे, शान्त हो गई बाधा वाले, निर्विघ्न, उपद्रवरहित। **उदयं** = अभ्युदय (उन्नति, वृद्धि) को। **दिशतः** = सम्पादित (सम्पन्न, सम्पादन) करते हुए। **वसूपमानस्य** = कुबेर (वसु) के तुल्य (नपुंसकलिङ्ग वसुशब्द का अर्थ 'धन' और पुंलिङ्ग वसुशब्द का अर्थ 'कुबेर' होता है)। **अस्य** = इस (दुर्योधन) के। **गुणैः** = (दया, दान, वीरता इत्यादि) गुणों के द्वारा। **उपस्नुता** = द्रवीभूत, द्रवित हुई। **मेदिनी** = पृथ्वी। **स्वयं** = अपने आप। **वसूनि** = धनों को। **प्रदुग्धे** = दुहती है, प्रदान करती है, (उत्पन्न कर रही है)।

अनु०—अति यशस्वी, दयालु, सुरक्षा के द्वारा उपद्रवरहित अभ्युदय (उन्नति) को सम्पादित करते हुए तथा (धन के अधिपति) कुबेर के सदृश इस (दुर्योधन) के गुणों से द्रवीभूता पृथिवी (नवप्रसूता गौ की भाँति) (इस दुर्योधन के लिए) स्वयं ही धनों को दुह रही है (उत्पन्न कर रही है)।

व्या०—प्रजापालनतत्परः एवं सद्गुणसमन्वितः दुर्योधनः सततं स्वकीय-राज्यस्य समुन्नतिं सम्पादयतीति प्रतिपादितमस्मिन् श्लोके। महायशस्वी एवं दयालुः सः दुर्योधनः निरन्तरं प्रजानां रक्षणेन स्वकीयराज्यस्य अभ्युदयं सम्पादयति। यथा केनचित् विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वत् कुबेरोपमस्य दुर्योधनस्य दयादाक्षिण्यादिभिः गुणैः प्रसन्ना सती पृथिवी स्वयमेव अस्मै धनानि प्रददाति।

स०—उदारा कीर्तिः यस्य सः उदारकीर्तिः तस्य (बहु०)। प्रशान्ता बाधा यस्मिन् तत् प्रशान्तबाधम् (बहु०) अथवा प्रशान्ता बाधा येन सः प्रशान्तबाधः तं प्रशान्तबाधम् (बहु०)। वसुः उपमानम् यस्य सः वसूपमानः तस्य (बहु०)।

व्या० **दयावतः**—दया + मतुप् (वतुप्) + ङस्। दया विद्यते अस्येति दयावान् तस्य। **दिशतः**—दिश् + लट शतृ + षष्ठी एकवचन। **उपस्नुता**—उप + स्नु + क्त + टाप। **प्रदुग्धे**—प्र + दुह् + लट, अन्यपुरुष एकवचन।

टि०—प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन के धन की वृद्धि का निरूपण किया गया है। दुर्योधन बड़ी तत्परता के साथ प्रजा की रक्षा कर रहा है। उसके राज्य में सर्वत्र शान्ति है। प्रजा में सन्तोष और सुख है। किसी प्रकार का कोई उपद्रव नहीं है। प्रजा के लोग निश्चित होकर प्रभूत धन का उपार्जन करते हैं और प्रजा से दुर्योधन को भी प्रचुर धन प्राप्त होता है। गुप्तचर इस तथ्य की ओर संकेत कर रहा है कि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध राष्ट्र को पराजित करना सरल कार्य नहीं होगा। दुर्योधन को पराजित करने के लिए बड़ा प्रयत्न करना होगा। (२) यहाँ पृथिवी का वर्णन एक नवप्रसूता और प्रसन्न गौ के रूप में किया गया है। (३) प्रस्तुत (पृथिवी) के वर्णन से अप्रस्तुत (गौ) की प्रतीति होने से यहाँ समासोक्ति अलंकार है। पृथिवी और गौ में भेद होने पर भी अभेद रूप में वर्णन होने से यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार भी है।

घण्टापथ—उदारेति। उदारकीर्तेः महायशसः। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः। अतः एव प्रशान्तवाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् उदयविशेषणं वा। 'वा दान्तशान्त'—इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः। अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेन उदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिः उपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि। 'वसु तोये घने मणौ' इति वैजयन्ती। स्वयं प्रदुग्धे। अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः। दुहेः कर्मकर्तरि लट्। 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः। यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः। अलङ्कारस्तु—'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सर्वस्वकारः। अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्ग्या मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोग्धृत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेपः॥ १८॥

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥१९॥

अ०—महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्तयः न संहताः न भिन्नवृत्तयः धनुर्भृतः असुभिः तस्य प्रियाणि समीहितुं वाञ्छन्ति।

श०—महौजसः = महा बलशाली (बली), अत्यधिक पराक्रमी **मानधनाः** = (कुलशील आदि का) अभिमान (मान) ही है धन जिनका प्रतिष्ठा (कीर्ति) को ही धन समझने वाले, मनस्वी। **धनार्चिताः** = (राजा दुर्योधन के द्वारा) धन से सत्कृत (पूजित, सम्मानित, प्रसन्न किए गए) **संयति** = युद्ध (संग्राम, समरभूमि, युद्धस्थल) में। **लब्धकीर्तयः** = कीर्ति (यश) प्राप्त कर लेने वाले, कीर्ति को प्राप्त किए हुए। **न संहताः** = (स्वार्थवश अथवा राजा के विरोध में) संगठित न होने वाले, गुटबन्दी (दलबन्दी) न करने वाले। **न भिन्नवृत्तयः**=आपसी वैमनस्य के कारण प्रतिकूल (विरोधी) आचरण न करने वाले, अपने-अपने मन का न करने वाले, आपसी शत्रुता से स्वामी के कार्य में बाधक न होने वाले। **धनुर्भृतः** = धनुर्धारी, योद्धा, वीर। **असुभिः** = (अपने) प्राणों से, अपने जीवन को समर्पित करके। **तस्य** = उस (दुर्योधन) के। **प्रियाणि** = प्रिय (अभीष्ट, अभिलषित, हितकर) कार्यों को। **समीहितुं वाञ्छन्ति** = करना चाहते हैं।

अनु०—अत्यधिक बलशाली, अभिमान (सम्मान, कीर्ति, प्रतिष्ठा) को ही धन मानने वाले, (दुर्योधन के द्वारा) धन से सत्कृत, युद्ध में (सदैव विजय प्राप्त करने से) कीर्ति (यश) को प्राप्त कर लेने वाले, (स्वार्थवश) संगठित न होने वाले (दलबन्दी न करने वाले) तथा आपसी वैमनस्य (शत्रुता) के कारण प्रतिकूल आचरण न करने वाले (आपसी शत्रुता से स्वामी के कार्य में बाधक न होने वाले) योद्धा अपने प्राणों से (अर्थात् अपने प्राण देकर भी) उस (दुर्योधन) के प्रिय (अभीष्ट) कार्यों को करना चाहते हैं।

व्या०—अस्मिन् श्लोके दुर्योधनस्य वीरभटानां सद्गुणाः तेषां वीरभटानां दुर्योधनं प्रति आनुकूल्यं च निरूपितम्। दुर्योधनस्य वीरभटाः अतितेजस्विनः कुलशीलाद्यभिमानशालिनः दुर्योधनेन प्रभूतधनप्रदानेन सम्मानिताः समरे समर्जितयशसः च वर्तन्ते। धनुर्धारिणः ते स्वार्थसिद्ध्यर्थं न कदापि सङ्गठिताः न च विरुद्धमतयः भवन्ति अपितु स्वस्वामिनः प्रयोजनस्य पूरकाः एव वर्तन्ते। सर्वे वीरभटाः स्वप्राणप्रदानेनापि स्वस्वामिनः दुर्योधनस्य प्रियकार्याणि कर्तुमिच्छन्ति।

स०—महत् ओजः येषां ते महौजसः (बहु०)। मानः एव धनं येषां ते मानधनाः (बहु०)। धनैः अर्चिताः इति धनार्चिताः (तत्पु०)। लब्धा कीर्तिः यैः ते लब्धकीर्तयः (बहु०)। भिन्नाः वृत्तयः येषां ते भिन्नवृत्तयः (बहु०)।

व्या०—संहताः–सम्+हन्+क्त। समीहितुम्–सम्+ईह्+तुमुन्।

टि०—(१) सेना राजा का बल कहलाती है। देश की सुरक्षा सेना पर आधारित होती है। उस राजा का शासन किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है जिसकी सेना में निर्बल, डरपोक, स्वार्थी, दलबन्दी करने वाले और अनुशासनहीन (अपने-अपने मन की करने वाले) व्यक्ति होते हैं। राजा दुर्योधन की शासन-कुशलता का ही यह परिणाम है कि उसने अपनी सेना में ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया है जो अत्यधिक बलवान् हैं, अभिमान (स्वाभिमान) को ही धन मानने वाले हैं, अनेक युद्धों में निरन्तर विजय प्राप्त करके जिन्होंने अपनी कीर्ति स्थापित की है, स्वार्थवश जो कभी संगठित नहीं होते और न अपने-अपने मन की करने वाले हैं। राजा दुर्योधन कृतज्ञतावश अपने योग्य योद्धाओं को समया-समय पर बहुमूल्य पारितोषिक प्रदान करता है। इससे प्रसन्न होकर वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी राजा के अभीष्ट कार्यों को सम्पादित करना चाहते हैं। (२) 'महौजसः' इत्यादि विशेषणों से हेतु का निर्देश होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है। साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है। दोनों अलंकारों के तिलतण्डुलवत् स्थित होने से संसृष्टि अलंकार।

घण्टापथ—महौजस इति। **महौजसो** महाबलाः अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः। मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते **मानधनाः**। अन्यथा कदाचिद् बलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भावः। **धनार्चिताः** धनैरर्चिताः सत्कृताः। अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः। **संयति** संग्रामे **लब्धकीर्तयः** बहुयशस इत्यर्थः। अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भावः। संहता मिथः संगताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति **न संहताः**। नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात् स्वामिकार्यकरा व भवन्तीति **न भिन्नवृत्तयः**। पूर्ववत् समासः। अन्यथा

स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः। धनुर्भृतो धानुष्काः। आयुधीयमात्रोपलक्षणमेतत्। प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम्। तस्य दुर्योधनस्य असुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति। आनृण्यार्थं प्राणान्दातु मिच्छन्ति। अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः। अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदान कर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। लक्षणं तूक्तम्। तथा साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद विभक्त्या स्फुरणात् संसृष्टिः ॥१९॥

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०

अ०—अशेषितक्रियः सः सच्चरितैः चरैः महीभृतां क्रियाः निःशेषं वेद। धातुः इव तस्य ईहितं महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतीयते।

श०—अशेषितक्रियः = कार्यों को पूर्ण रूप से सम्पन्न (समाप्त, पूरा) करने वाला, कार्यों को फलप्राप्ति तक निरन्तर करते रहने वाला, कार्यों को अपूर्ण न छोड़ने वाला। सः = वह (दुर्योधन)। सच्चरितैः = शुद्ध चरित्र (आचरण) वाले। चरैः = गुप्तचरों के द्वारा। महीभृतां = (दूसरे) राजाओं की। क्रियाः = क्रियाओं (कार्यों) को। निःशेषं = पूर्ण रूप से, पूरी तरह से। वेद = जानता है। धातुः इव = विधाता (स्रष्टा, परमेश्वर) की तरह। तस्य = उस (दुर्योधन) की। ईहितं = अभीष्ट, चेष्टा, उद्योग। महोदयैः = अत्यधिक उत्कर्ष (वृद्धि, समृद्धि, लाभ) करने वाले। हितानुबन्धिभिः = हितकारक (सुखकर, शुभ, कल्याणकारक, मांगलिक) परिणाम (पर्यवसान, अनुबन्ध) वाले, परिणामसुखद (परिणाम में सुख देने वाले)। फलैः = फलों (परिणामों, कार्य-सिद्धियों) के द्वारा। प्रतीयते = प्रतीत (ज्ञात) होता है, जाना जाता है।

अनु०—समस्त कार्यों को पूर्ण रूप से समाप्त (पूरा) करने वाला (अथवा करके) वह (दुर्योधन) शुद्ध चरित्र (आचरण) वाले गुप्तचरों के द्वारा (दूसरे) राजाओं के (सम्पूर्ण) कार्यों (क्रियाओं, रहस्यों) को

पूरी तरह से जानता है। विधाता की (इच्छा की तरह) उस (दुर्योधन) की चेष्टा (योजना) अत्यधिक समृद्धि को प्रदान करने वाले तथा कल्याणकारक फलों के द्वारा ही ज्ञात होती है।

व्या०—स्वराष्ट्रवत् परराष्ट्रवृत्तान्तमपि दुर्योधनः वेत्तीति निरूपितमत्र। स्वराष्ट्रस्य सर्वाणि कार्याणि समाप्य सः दुर्योधनः शुद्धचरितैः गुप्तचरैः अन्येषां राष्ट्राणां सम्पूर्णं वृत्तान्तं जानाति। किन्तु यथा परमेश्वरः किं कर्तुमिच्छति इति तस्य कार्यैः एव ज्ञायते तथैव दुर्योधनस्य मनसि स्थितः संकल्पः महावृद्धिभिः शुभपरिणामैश्च फलैरेव ज्ञायते। तस्य कार्यस्य ज्ञानं फलोदयात् पूर्वं न भवति। फलानुमेयाः तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः।

स०—न शेषिताः इति अशेषिताः (नञ् समास), अशेषिताः क्रियाः येन सः अशेषितक्रियः (बहु०)। सत् चरितं येषां ते सच्चरिताः तैः सच्चरितैः (बहु०)। महीं बिभर्ति इति महीभृत् तेषां महीभृताम् (उपपद समास)। महान् उदयः येषां तानि महोदयानि तैः महोदयैः (बहु०)। हितम् अनुबध्नन्ति इति हितानुबन्धिनः तैः हितानुबन्धिभिः (उपपद समास)।

व्या०—चरैः—चरन्तीति चराः तैः। चर्+अच्। हितानुबन्धिभिः= हित+अनु+बन्ध्+णिनि। ईहितम्—ईह+क्त। वेद—विद्+लट्, अन्य पुरुष, एकवचन। प्रतीयते—प्रति+इ+लट् अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) इस श्लोक में पहली बात तो यह बतलाई गई है कि दुर्योधन अपने राष्ट्र के वृत्तान्त को जानने के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के वृत्तान्त को भी भलीभाँति जानता है। दूसरी बात यह बतलायी गई है कि अपने गुप्तचरों के माध्यम से वह दूसरे राजाओं के रहस्यों को तो पूर्णरूप से जानता है, किन्तु उसके रहस्यों को कोई नहीं जानता। दूसरे लोगों को उसकी योजनाओं का तभी पता चलता है जब वे कार्यरूप में परिणत हो जाती हैं। राजनीति में मन्त्र 'गुप्ति' का बड़ा भारी महत्त्व होता है। जिस राजा की मन्त्रणा जितनी गुप्त रहती है वह उतना ही अधिक सफल होता है। (२) 'धातुरिव' इस अंश में उपमा अलंकार है।

घण्टापथ—महीभृतामिति। अशेषितक्रियः समापितकृत्यः। आफलोदय कर्मेत्यर्थः। स दुर्योधनः। सच्चरितैः शुद्धचरितैः अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैः चरैः प्रणिधिभिः। पचाद्यच्। महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह-महोदयैरिति। धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितं उद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः। हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभिः स्वन्तैरित्यर्थः। फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते। फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ॥२०॥

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अ०—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम् आननं वा कोपविजिह्मं न कृतम्। नराधिपैः अस्य शासनं गुणानुरागेण माल्यम् इव शिरोभिः उह्यते।

श०—तेन=उस (दुर्योधन) के द्वारा। क्वचित्=कहीं भी। सज्यं=चढ़ी हुई (चढ़ाई हुई) प्रत्यञ्चा (डोरी, ज्या) वाले, प्रत्यञ्चा से युक्त। धनुः = धनुष। न = नहीं। उद्यतम् = उठाया गया, ऊपर किया गया, प्रयुक्त किया गया। वा = अथवा। आननं = मुख। क्रोधविजिह्मं = क्रोधवश (क्रोध से, क्रोध के कारण) कुटिल (टेढ़ा, वक्र, विकृत)। न कृतम् = नहीं किया गया। नराधिपैः = (कर देने वाले अधीनस्थ) राजाओं के द्वारा, सामन्तों के द्वारा। अस्य = इस (दुर्योधन) का। शासनं = आज्ञा, आदेश। गुणानुरागेण = (दया, दाक्षिण्य आदि) गुणों के अनुराग से, गुणों के वशीभूत होकर, गुणों में अनुरक्त होने के कारण, गुणों से आकृष्ट होने के कारण [माला के पक्ष में–सूत्र मे गुँथे (गुम्फित) होने के कारण अथवा सुगन्ध, मनोहरता आदि गुणों के कारण]। माल्यम् इव = पुष्प-माला की तरह। शिरोभिः = शिरों से, नतमस्तक होकर अर्थात् सम्मान के साथ। उह्यते = धारण की जाती है, स्वीकार की जाती है।

अनु०—उस (दुर्योधन) के द्वारा प्रत्यञ्चा से युक्त (चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाला) धनुष कहीं भी (किसी के ऊपर भी) नहीं उठाया गया (नहीं प्रयुक्त

किया गया) अथवा (और) न अपने मुख को क्रोध के कारण कुटिल (वक्र, विकृत) किया गया। कर देने वाले अधीनस्थ राजाओं (सामन्तों) के द्वारा इस (दुर्योधन) के आदेश (आज्ञा) को गुणानुराग से (= उस दुर्योधन के गुणों में अनुरक्त होने के कारण) नत मस्तक होकर (=आदरपूर्वक) स्वीकार किया जाता है जैसे पुष्प-माला को सुगन्ध इत्यादि गुणों के कारण (अथवा सूत्र में गुम्फित होने के कारण) सिर झुकाकर धारण किया जाता है।

सं० व्या०—अस्मिन् श्लोके कौरवेश्वरस्य दुर्योधनस्य प्रवृद्धः प्रभावः निरूपितः। अधुना कोऽपि नृपः दुर्योधनस्य प्रतिकूलं नाचरति। सर्वे नृपाः सम्मानपूर्वकं तस्य आदेशं पालयन्ति। यद्यपि दुर्योधनेन कस्मिंश्चिदपि अपकारिणि आरोपितमौर्वीकं धनुर्न उत्थापितं, स्वकीयं मुखं च कदापि क्रोधेन विकृतं न कृतं तथापि सर्वे राजानः तस्य दुर्योधनस्य दयादाक्षिण्यादिगुणैः वशीकृताः तस्य आदेशं तथैव नतशिरोभिः पालयन्ति यथा सुरभिगुणलोभेन जनाः पुष्पमालां नतशिरोभिः धारयन्ति।

स०—ज्यया सह वर्तते यत् तत् सज्यम् (बहु०)। कोपेन विजिह्ममिति कोपविजिह्मम् (तृतीया तत्पु०)। नराणाम् अधिपाः नराधिपाः तैः (षष्ठी तत्पु०)। गुणेषु अनुरागः इति गुणानुरागः तेन गुणानुरागेण (सप्तमी तत्पु०)।

व्या०—गुणानुरागेण-में हेतौ तृतीया है। उद्यतम्—उद् + यम् + क्त। उह्यते—वह् + लट् (कर्मवाच्य), अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) इस श्लोक में दुर्योधन के अतिशय प्रभाव का निरूपण किया गया है। कोई भी राजा उसके प्रतिकूल आचरण नहीं करता। कर देने वाले सभी राजा प्रसन्नतापूर्वक उसके आदेश का पालन करते हैं। यद्यपि उसने किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं किया और न उसने किसी के प्रति क्रोध किया तथापि सभी राजा उसके गुणों से प्रभावित होकर उसके आदेश को उसी प्रकार शिरोधार्य करते हैं जैसे लोग सुगन्धित पुष्पों की माला को प्रसन्नतापूर्वक धारण करते हैं। (२) 'माल्यमिव' में उपमा है।

घण्टापथ—नेति। तेन राज्ञा क्वचित् कुत्रापि। सह ज्यया मौर्व्या सज्यम्।

'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि धनुः नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम् । आननं वा कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः । कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु अनुरागेण प्रम्णा । माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेन यद्वा सौरभ्यगुणलोभेन । नराधिपैरस्य शासनम् आज्ञा । मालेव माल्यं वदिव । 'चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभि उह्यते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यकि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ।। २१ ।।

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ।।२२।।

अ०—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतं दुःशासनं यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः मखेषु हव्येन हिरण्यरेतसं धिनोति ।

श०—इद्धशासनः = प्रज्वलित (अप्रतिहत, अनतिक्रमणीय) शासन (आदेश, आज्ञा) वाला, जिसके आदेश का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता । सः = वह (दुर्योधन) । नवयौवनोद्धतं = नवीन (नई) युवावस्था (जवानी) के कारण प्रगल्भ (प्रचण्ड, उग्र, प्रबल, धुरन्धर) । दुःशासनं = (अपने छोटे भाई) दुःशासन को । यौवराज्ये = युवराज के कर्म में, युवराज के पद पर । निधाय = नियुक्त (स्थापित, प्रतिष्ठित) करके । पुरोधसा = पुरोहित के द्वारा । अनुमतः = अनुमति (आदेश, आज्ञा) प्राप्त करके (प्राप्त किया हुआ), उपदिष्ट । अखिन्नः = बिना खिन्न हुए, बिना थके हुए, बिना आलस्य के, आलस्यरहित होकर, सतत, निरन्तर । मखेषु = यज्ञों में । हव्येन = हवि (चरु, पुरोडाश आदि हवनीय द्रव्य) के द्वारा । हिरण्यरेतसं = अग्नि को । धिनोति = प्रसन्न करता है, तृप्त करता है ।

अनु०—अप्रतिहत आज्ञा वाला (जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा) वह (दुर्योधन) नवीन युवावस्था के कारण गर्वयुक्त दुःशासन को युवराज पद पर स्थापित करके (स्वयं) पुरोहित की अनुमति से यज्ञों में हवि के द्वारा अग्नि को तृप्त (प्रसन्न) करता है ।

सं०व्या०-अस्मिन् श्लोके दुर्योधनस्य धार्मिकत्वं निरूप्यते। अप्रतिहतादेशः सः दुर्योधनः अभिनवयौवनप्रगल्भं स्वानुजं दुःशासनं युवराजपदे नियुज्य स्वयं पुरोहितेन उपदिष्टः निरन्तरं यज्ञेषु हवनद्रव्येण अग्निं प्रीणयति। अतीव कुटिलः सः दुर्योधनः प्रजासु आत्मानं धार्मिकत्वेन प्रदर्शयितुं प्रयत्नशीलः अस्ति। दुर्योधनः धर्माचरणं करोति, पुरोहितानामाज्ञां पालयति, स्वानुजान् प्रति स्निह्यति इत्यादि-रूपा तस्य प्रशंसा प्रजासु श्रूयते। सः दुर्योधनः सम्यक् रूपेण जानाति यत् धार्मिकस्य राज्ञः सर्वे जनाः साहाय्यं कुर्वन्ति।

स०—इद्धं शासनं यस्य सः इद्धशासनः (बहु०)। नवं यौवनं नवयौवनं (कर्मधा०), नवयौवनेन उद्धतमिति नवयौवनोद्धतम् (तृतीया तत्पु०)। युवा चासौ राजा च इति युवराजः (कर्मधा०) युवराजस्य कर्म यौवराज्यं तस्मिन् यौवराज्ये। हिरण्यं रेतः यस्य सः हिरण्यरेतः तं हिरण्यरेतसम् (बहु०)।

व्या०—अनुमतः-अनु + मन् + क्त। निधाय-नि + धा + क्त्वा-ल्यप्। धिनोति-धिन्व् + लट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०-(१) उद्धत का अर्थ मल्लिनाथ ने धुरन्धर किया है। 'नवयौवनोद्धतम्' का दुःशासन के विशेषण के रूप में प्रयोग करके महाकवि ने यह बतलाया है कि नवीन युवावस्था के कारण दुशासन शासन के गुरु भार को वहन करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। दुर्योधन के लिए 'इद्धशासनः' विशेषण का प्रयोग करके महाकवि ने यह बतलाया है कि नवयौवनोद्धत होने पर भी दुःशासन दुर्योधन के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता है। (२) वस्तुतः दुर्योधन बड़ा नीतिज्ञ और चालाक है। वह प्रजा को यह दिखलाना चाहता है कि वह बड़ा सज्जन और धार्मिक है। वह इस तथ्य को भलीभाँति जानता है कि सभी लोग धार्मिक राजा की सब प्रकार से सहायता करते हैं। दुर्योधन की कुशलता के कारण प्रजाजनों में सर्वत्र उसकी इस प्रकार की प्रशंसा हो रही है—महाराज दुर्योधन बड़ा धार्मिक है, वह पुरोहितों के आदेशों का पालन करता है, वह अपने अनुजों से बड़ा स्नेह रखता है, वह प्रजा के हित में सर्वदा तत्पर रहता है-इत्यादि इत्यादि। (३) अनुप्रास अलंकार।

घण्टापथ—स इति। **इद्धशासनः** अप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो **नवयौवनोद्धतं** प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यत इति **दुःशासनस्तम्**। 'भाषाय 'शासियुधि०'—इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः। **यौवराज्ये युवराजकर्मणि**। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। निधाय नियुज्येत्यर्थः। **पुरोधसा पुरोहितेन अनुमतोऽनुज्ञातः** तस्मिन् याजके सतीत्यर्थः। तदुल्लंघने दोषस्मरणादिति भावः। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः। न तु 'गतिबुद्धि०' इत्यादिना वर्तमानार्थे। अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। अखिन्नोऽनलसः। **मखेषु** क्रतुषु। **हव्येन** हविषा। हिरण्यं रेतो यस्य तं **हिरण्यरेतसं** अनलं **धिनोति** प्रीणयति। **धिन्वेः** प्रीणनार्थाद् 'धिन्विकृण्व्योर च इत्युप्रत्ययः। अकारश्चान्तादेशः।।२२।।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥

अ०—सः प्रलीनभूपालं स्थिरायति आवारिधि भुवः मण्डलं प्रशासत् अपि त्वत् एष्यतीः भियः चिन्तयति एव। अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता।

श०—सः = वह (दुर्योधन)। **प्रलीनभूपालं** = विलीन (विनष्ट, नष्ट, समाप्त) हो गए हैं (विपक्षी, शत्रुभूत) राजा जिसमें, शत्रुभूत राजाओं से रहित। **स्थिरायति** = स्थिर (निश्चित) है भविष्य (आयति) जिसमें, निश्चित भविष्य वाले, चिरस्थायी। **आवारिधि** = समुद्र तक, समुद्रपर्यन्त। **भुवः मण्डलं** = भूमण्डल को, पृथ्वी—मण्डल को। **प्रशासत् अपि** = शासन करता हुआ भी। **त्वत्** = तुम (दुर्योधन) से, आप से,। **एष्यतीः** = आने वाली, उत्पन्न होने वाली। **भियः** =भयों, भय के कारणों, विपत्तियों को। **चिन्तयति एव** = सोचता ही है, चिन्तन (चिन्ता, विचार) करता ही है। **अहो** = आश्चर्य है। **बलवद्विरोधिता** = बलवानों (प्रबलों, पराक्रमी व्यक्तियों) के साथ विरोध (शत्रुता, द्वेष)। **दुरन्ता** = दुःखान्त (दुःख में अन्त होने वाला) दुःखमय परिणाम (फल) वाला (होता है)।

अनु०—शत्रुभूत राजाओं से रहित और स्थिर (निश्चित) भविष्य वाले समुद्रपर्यन्त भुमण्डल का शासन करता हुआ भी वह (राजा दुर्योधन)

तुमसे आने वाली विपत्तियों (भयों) की चिन्ता करता ही रहता है। आश्चर्य है! बलवानों के साथ विरोध करने का परिणाम दुःखमय होता है।

सं० व्या०—यद्यपि अधुना शत्रुरहितस्य भूमण्डलस्य सः दुर्योधनः अद्वितीयः शासकः वर्तते—कोऽपि तस्य अनिष्टं कर्तुं न समर्थः तथापि भवतः विपत्तीः आशङ्कमानः सः सुखेन स्थातुं न शक्नोति। स चिन्तयति यत् भवान् वनात् प्रत्यागत्य तस्य द्यूतक्रीडया उपार्जितं राज्यं गृहीष्यति तस्य अनिष्टं च करिष्यति। अहो महदाश्चर्यं विद्यते बलवद्भिः सह शत्रुतां कृत्वा कोऽपि चिन्तारहितः भवितु न शक्नोति।

स०—प्रलीनाः भूपालाः यस्मिन् तत् प्रलीनभूपालम् (बहु०)। स्थिरा आयतिः यस्य तत् स्थिरायति (बहु०)। आ वारिधिभ्यः इति आवारिधि (अव्ययीभाव)। बलवता विरोधिता इति बलवद्विरोधिता (तृतीया तत्पु०)। दुर् अन्तः यस्याः सा दुरन्ता (बहु०)।

व्या०—प्रशासत्—प्र + शास् + शतृ। एष्यतीः—इ + लृट् शतृ, द्वितीया, बहुवचन।

टि० - (१) पूर्ववर्ती श्लोकों में दुर्योधन की महत्ता का वर्णन करके गुप्तचर इस श्लोक में यह बतला रहा है कि पूर्वोक्त सब कुछ होते हुए भी दुर्योधन आपकी बराबरी नहीं कर सकता है। आप लोग दुर्योधन की अपेक्षा अधिक बलशाली हैं। दुर्योधन आप से सर्वदा भयभीत रहता है इस तथ्य से ही आपका बल सूचित होता है। आप अपने बल को पहचानें। निराशा की कोई बात नहीं है। दुर्योधन को पराजित करने का उद्योग आप को यथासमय अवश्य करना चाहिए। (२) सामान्य कथन के द्वारा विशेष कथन का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

घण्टापथ—प्रलीनेति। स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् निःसपत्नमित्यर्थः। स्थिरायति चिरस्थायीत्यर्थः। भुवो मण्डलम्। आ वारिधिभ्यः आवारिधि। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इति अव्ययीभावः। प्रशासत् आज्ञापयन्नपि। 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः।

त्वन्त्वन्तः एष्यतीरागमिष्यतीः। धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धिः। अथवा-ङ्पूर्वः पाठः। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। भियो भयहेतून्। विपद इत्यर्थः। चिन्तयति आलोचयत्येव। स एवाह-अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना। सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

अ०—कथाप्रसंगेनजनैः उदाहृतात् दुःसहात् तवाभिधानात् मन्त्र-पदात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः नताननः उरगः इव कथाप्रसंगेन जनैः उदाहृतात् दुःसहात् तव अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः सः नताननः (सन्) व्यथते।

श०—कथाप्रसंगेनजनैः = विषवैद्यों (कथाप्रसंग = वार्ता अथवा विष-वैद्य) में जो श्रेष्ठ लोग हैं उनके द्वारा, विषवैद्यों (सपेरों) में इन जन अर्थात् श्रेष्ठ जनों (लोगों) के द्वारा। उदाहृतात् = उच्चारित, उच्चारण किए हुए। दुःसहात् = असह्य, अत्यन्त कठोर। तवाभिधानात् = तार्क्ष्य (त) और वासुकि (व) के नाम से युक्त, तार्क्ष्य (गरुड) तथा वासुकि (नागराज) के नाम वाले। मन्त्रपदात् = (विष दूर करने वाले) मन्त्र के पद से। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः = स्मरण कर लिया है इन्द्र (आखण्डल) के अनुज (सूनु = पुत्र अथवा अनुज) के पक्षी (वि = पक्षी) के पादविक्षेप (क्रम) को जिसने ऐसे, इन्द्र के अनुज (उपेन्द्र = विष्णु) के पक्षी (वाहनभूत गरुड) के पादविक्षेप (पादप्रहार आक्रमण) का स्मरण कर लेने वाले। नताननः = मुख (फण) को नीचे किए हुए। उरग इव = सर्प की तरह। कथाप्रसंगेन = बातचीत (वार्तालाप) के प्रसङ्ग में, विचार-गोष्ठियों के प्रसङ्ग में। जनैः = लोगों के द्वारा। उदाहृतात् = उच्चारण

किए गये, कहे गये। दुःसहात् = असह्य, अत्यन्त कठोर। तव = तुम्हारे। अभिधानात् = नाम से। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः = स्मरण कर लिया है इन्द्र (आखण्डल) के पुत्र (सूनु) के पराक्रम (विक्रम) को जिसने ऐसा इन्द्रपुत्र (अर्जुन) के पराक्रम को स्मरण कर लेने वाला (= स्मरण करके)। सः = वह (दुर्योधन)। नताननः = मुख को नीचे किए हुए, अधोमुख होकर, (भय के कारण) मुँह को नीचे की ओर करके। व्यथते = व्यथित होता है, दुखी होता है।

अनु०—विषवैद्यों में श्रेष्ठ लोगों के द्वारा उच्चारण किए हुए अत्यन्त असह्य तार्क्ष्य (गरुड) और वासुकि (नागराज) के नाम से युक्त मन्त्र-पद (विष दूर करने वाले मन्त्र के पद) से इन्द्र के अनुज (विष्णु) के पक्षी (वाहनभूत गरुड) के पाद-प्रहार का स्मरण कर लेने वाले तथा मुख (फण) को नीचे झुकाए हुए सर्प की तरह बातचीत के प्रसङ्ग में लोगों के द्वारा कहे गए अत्यन्त असह्य तुम्हारे नाम से इन्द्र-पुत्र (अर्जुन) के पराक्रम को स्मरण करके वह (दुर्योधन) अधोमुख होकर (भय के कारण मुँह को नीचे किए हुए) अत्यधिक दुःखी होता है।

व्या०—'युधिष्ठिरो वनात् प्रतिनिवृत्तः स्वकीयराज्यं ग्रहीष्यति दुर्योधनस्य अनिष्टं च करिष्यति' इति मनसि विचिन्तयन् दुर्योधनो महत् भयमनुभवति। 'गूढाकारेङ्गितस्य तस्य दुर्योधनस्य भयं त्वया कथं ज्ञातम्' इति प्रश्नस्योत्तर ददाति गुप्तचरोऽस्मिन् श्लोके।

यथा विषवैद्येन उच्चारितं तार्क्ष्यवासुकिनामसमन्वितं सोढुमशक्यं मन्त्रपदं श्रुत्वा स्मृतगरुडपादप्रहारः सर्पः भयाकुलः सन् स्वकीयफणां नतीकृत्य दुःखायते तथा परस्परालापप्रसङ्गे तत्रत्यैः जनैः उच्चारितं दुःसहनीयं तव (भवतः) नामधेयं श्रुत्वा स्मृतार्जुनपराक्रमः दुर्योधनः स्वपराजयाशङ्कया अवनतमुखः सन् दुःखायते। दुर्योधनस्य मुखाकृत्या मया ज्ञातं यत् सः पराजयाशङ्कया महद् भयमनुभवति। अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वाराः। मुखाकृतिं दृष्ट्वैव हृदयस्था भावाः ज्ञातुं शक्यन्ते।

स०—कथाप्रसंगेनजनैः-(उरगपक्षे) कथाप्रसङ्गेषु (विषवैद्येषु) इनाः (श्रेष्ठाः) इति कथाप्रसङ्गेनाः (सप्तमी तत्पु०), कथाप्रसङ्गेनाः ते च जनाश्च इति कथाप्रसङ्गेनजनाः तैः कथाप्रसङ्गेनजनैः (कर्मधारय) । (दुर्योधनपक्षे) कथायाः प्रसङ्गः इति कथाप्रसङ्गः तेन कथाप्रसङ्गेन (षष्ठी तत्पु०) । दुःखेन सह्यते इति दुःसहम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पु०) । तश्च वश्च तवौ (तार्क्ष्यवासुकी) (द्वन्द्व), तवयोः अभिधानं यस्मिन् तत् तवाभिधानं तस्मात् (बहु०) । मन्त्रस्य पदं मन्त्रपदं तस्मात् (षष्ठी तत्पु०) । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः (उरगपक्षे) आखण्डलस्य सूनुः (अनुजः) इति आखण्डलसूनुः (विष्णुः) (षष्ठी तत्पु०), तस्य विः (पक्षी, गरुडः) (षष्ठी तत्पु०) तस्य क्रमः (षष्ठी तत्पु०), अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः (बहु०) । (दुर्योधनपक्षे) आखण्डलस्य सूनुः इति आखण्डलसूनुः (षष्ठी तत्पु०), आखण्डलसूनोः विक्रमः इति आखण्डलसूनुविक्रमः (षष्ठी तत्पु०), अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः अनुस्मताखण्डलसूनुविक्रमः (बहु०) नतम् आननं यस्य सः नताननः (बहु०) ।

व्या०—दुःसहात्—दुर् + सह् + खल् । उरगः—उरसा गच्छतीति उरगः । उर + गम् + ड । व्यथते—व्यथ् + लट्, अन्यपुरुष, एकवचन ।

टि०—(१) 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इस न्याय से 'त' से तार्क्ष्य और 'व' से वासुकि का ग्रहण होता है । जब विषवैद्य तार्क्ष्य (गरुड) और वासुकि (नागराज) के नामों से समन्वित मन्त्रों का उच्चारण करके विष उतारते हैं तब सर्प को गरुड के पादप्रहार का स्मरण हो जाता है और वह भय के कारण अपने फण को नीचे झुका लेता है । उल्लेखनीय है कि गरुड बड़े चाव से सर्पों का भक्षण करता है । (२) पर्वतों के पक्षों को तोड़ने (खंडित करने, काटने) के कारण इन्द्र को आखण्डल कहा जाता है । सूनु के यहाँ दो अर्थ हैं—अनुज और पुत्र । अतः (क) आखण्डल = इन्द्र का अनुज (विष्णु) । वामनावतार में विष्णु कश्यप और अदिति के लघु पुत्र थे । और इन्द्र इनसे बड़े थे । इसीलिए विष्णु को उपेन्द्र तथा इन्द्रावरज आदि भी कहा जाता है । (ख) आखण्डलसूनु = इन्द्र का पुत्र (अर्जुन) । (३) प्रस्तुत

श्लोक से गुप्तचर किरात की सूक्ष्म दृष्टि और बुद्धिमत्ता का पता चलता है। १४ के श्लोक में बतलाया जा चुका है कि दुर्योधन अपने स्वरूप को ऐसा बनाये रखता है कि आकृति से कोई यह नहीं समझ सकता है कि वह सशङ्क है। वह अपने हृदयस्थ भावों को इस प्रकार छिपाये रखता है कि कोई उन्हें भाँप नहीं सकता है। किन्तु दुर्योधन की सावधानी और चालाकी गुप्तचर के सामने असफल हो गई। गुप्तचर ने यह बात भाँप ली कि युधिष्ठिर का नाम सुनने पर दुर्योधन भावी पराजय की आशङ्का से अपने सिर को नीचे झुका लेता है। (४) महाकवि ने इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि हृदयस्थ भय इत्यादि उत्कट भावों को दबाया नहीं जा सकता है। हृदय की बातों को मुख बतला देता है। हृदय में स्थित भावों के लिए मुख की आकृति दर्पण का कार्य करती है। दुर्योधन के मुख की आकृति को देखकर गुप्तचर ने उसके हृदयस्थ भावों को भलीभाँति समझ लिया। (५) गुप्तचर इस तथ्य की ओर संकेत कर रहा है कि सिंहासनारूढ और सर्वशक्तिसम्पन्न होने पर भी दुर्योधन को पराजित किया जा सकता है। उसका हृदयस्थ भय ही उसकी निर्बलता और आपकी सबलता को बतला रहा है। (६) अर्जुन युधिष्ठिर का अनुज है। अतः अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा को सुनकर युधिष्ठिर को बड़ी प्रसन्नता हुई होगी। (७) राष्ट्र की रक्षा का भार गुप्तचरों पर ही होता है। जिस राष्ट्र के गुप्तचर किरात जैसे बुद्धिमान् और सावधान होंगे उस राष्ट्र का कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता है। (८) श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलंकार। दुर्योधन उपमेय, उरग (सर्प) उपमान, इव उपमा-वाचक पद तथा अधोमुख होना, दुःखी होना इत्यादि साधारण धर्म हैं।

घण्टापथ—कथेति। कथाप्रसंगेन गोष्ठीवचनेन जनैः तत्रस्थैरित्यर्थः। अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन। 'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः। एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम्। उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः। 'हेतौ' इति पञ्चमी। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। अन्यत्र तवाभिधानात्। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात्। तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभि-

धानं यस्मिन् पदे तस्मात्। यद्वा कथप्रसङ्गे इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम्। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सन् दुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात् स्मारकाद्धेतोः। आखण्डलसूनुरिन्द्रानुजः। उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत्। सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः। तस्य विः पक्षी गरुड इत्यर्थः। तस्य क्रमः पादविक्षेपः। सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः। स्मृतगरुडमहिमा। उरग इव नताननः सन्। व्यथते दुःखायते। 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः। अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भावः। 'सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम्॥ २४॥

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥२५॥

अ०—तत् त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु।

श०—तत् = अतः, इसलिए। त्वयि = तुम्हारे (युधिष्ठिर के) विषय में, तुम्हारे प्रति। जिह्मं = कपट। कर्तुम् उद्यते = करने के लिए उद्यत (तत्पर, तैयार)। तत्र = वहाँ, उस दुर्योधन के विषय में, उस दुर्योधन के प्रति। विधेयम् = करने योग्य, उचित। उत्तरम् = प्रतिक्रिया, प्रतीकार, उपाय। आशु = शीघ्र। विधीयताम् = करो, कीजिए। परप्रणीतानि = दूसरों के द्वारा कहे गए। वचांसि = वचनों को, कथनों को। चिन्वतां=संचित (एकत्रित, इकट्ठा, चयन) करने वाले। मादृशां = मुझ जैसे (गुप्तचरों, संदेश हरण करने वालों) की। गिरः = वाणी, वचन, कथन। प्रवृत्तिसाराः = प्रवृत्ति (वार्ता, वृतान्त, समाचार) ही है सार (तत्त्व) जिसमें ऐसी (यह गिरः = वाणी का विशेषण है)।

अनु०—इसलिए तुम्हारे प्रति कपट करने में तत्पर (अर्थात् तुम्हारा विनाश करने में लगे हुए) उस दुर्योधन के प्रति समुचित प्रतीकार शीघ्र कीजिए। दूसरों

के द्वारा कहे गये वचनों (कथनों) को संचित करने वाले मुझ जैसे (गुप्तचरों) की वाणी तो समाचार देने तक ही सीमित होती है (केवल समाचार देना हमारा कार्य है—अब क्या करना है यह निर्णय आप करें) ।

सं० व्या०—स्वकीयसंदेशस्य अन्ते किरातः कथयति-अतीव कुटिलः सः कौरवेश्वरः दुर्योधनः कपटमाश्रित्य त्वां हन्तुमिच्छति । अतः तस्मिन् दुर्योधने करणीयः प्रतीकारः शीघ्रं क्रियताम् । ननु कर्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परोक्तवचनसंग्राहकाणां अस्मद्विधानां वार्ताहारिणां गुप्तचराणां वचनानि तु केवलं समाचारज्ञापकान्येव भवन्ति । वार्तामात्रवादिनः वयं, न तु कर्तव्योपदेशसमर्थाः । अधुना किं कर्तव्यं कथं च कर्तव्यमिति वक्तुं न वयं समर्थाः । अतः भवता सुविचार्य समुचितं कर्म करणीयम् ।

स०—परैः प्रणीतानि इति परप्रणीतानि (तत्पु०) । प्रवृत्तिः सारः यासां ताः प्रवृत्तिसाराः (बहु०) ।

व्या०—उद्यते–उत् + यम् + क्त, सप्तमी एकवचन । विधीयताम्–वि + धा + लोट (कर्मणि) । चिन्वताम् –चि + शतृ + षष्ठी, बहुवचन ।

टि०—(१) गुप्तचर किरात अपने पद की मर्यादा को भली-भाँति जानता है और वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है । गुप्तचर का काम तो केवल शत्रु पक्ष का यथार्थ समाचार देना है । गुप्तचर का यह काम नहीं है कि वह राजा को यह बतलाये कि उन्हें क्या करना चाहिए । 'आप यह कीजिए' यह उपदेश देना गुप्तचर का काम नहीं है । युधिष्ठिर को अब क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए—इसका निर्णय उन्हें स्वयं करना है । (२) सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

घण्टापथ—तदिति । तत् तस्मात् त्वयि जिह्मं कपटं कर्तुमुद्यते त्वां जिघांसावित्यर्थः । तत्र तस्मिन् दुर्योधने विधेयं कर्तव्यम् उत्तरम् प्रतिक्रिया आशु विधीयतां क्रियताम् । ननु कर्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि । वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशां वार्ताहारिणामित्यर्थः । गिरः प्रवृत्तिसाराः वार्तामात्रसाराः खलु । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः'

इत्यमरः। वार्तामात्रवादिनो वयं, न तु कर्तव्योपदेशसमर्थाः; अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

अ०—वनसन्निवासिनां पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये गते (सति) अथ महीभुजा कृष्णासदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तत् वचः आचचक्षे।

श०—वनसन्निवासिनां पत्यौ = वनवासियों (वनचरों, वनेचरों, किरातों) के स्वामी (उस गुप्तचर किरात) के। इति = इस प्रकार की। गिरम् = वाणी (वचन, संदेश) को। ईरयित्वा = कह कर। आत्तसत्क्रिये = सत्कार (पुरस्कार पारितोषिक) प्राप्त कर। गते = (अपने घर) चले जाने पर। अथ = उसके बाद, तदनन्तर। महीभुजा = राजा (युधिष्ठिर) के द्वारा। कृष्णासदनं = द्रौपदी के भवन में। प्रविश्य = प्रवेश करके। अनुजसन्निधौ = (भीमादि) भाइयों के पास (समक्ष, सम्मुख, सामने)। तत् वचः = (वनेचर के द्वारा कहा गया) वह वचन (संदेश, वार्तें)। आचचक्षे = कहा गया। (अथवा—महीभुजा सदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद् वचः कृष्णा आचचक्षे = राजा युधिष्ठिर के द्वारा भवन में प्रवेश करके भाइयों के समक्ष यह वचन द्रौपदी से कहा गया)।

अनु०—वनवासियों के स्वामी (उस गुप्तचर किरात) के इस प्रकार के वचन को कहकर और पुरस्कार प्राप्त कर अपने घर चले जाने के अनन्तर राजा युधिष्ठिर के द्वारा द्रौपदी के भवन में प्रवेश करके (भीमादि) भाइयों के सामने वह (गुप्तचरप्रोक्त) वचन कहा गया (अथवा—युधिष्ठिर के द्वारा भवन में प्रविष्ट होकर भाइयों के समक्ष वह वचन द्रौपदी से कहा गया)।

सं० व्या०—वनेचराणामधिपः सः गुप्तचरः किरातः दुर्योधनस्य सम्पूर्ण-वृत्तान्तमुक्त्वा युधिष्ठिरात् समुचितं पुरस्कारं च गृहीत्वा स्वगृहं गतः। तदनन्तरं राजा युधिष्ठिरः द्रौपदीभवनं प्रविश्य भीमादीनां समक्षं वनेचरेणोक्तं तत् सर्वं

वृत्तान्तमकथयत् (अथवा–राजा युधिष्ठिरः भवनं प्रविश्य भीमादिनां भ्रातणां पुरतः द्रौपदीं प्रति तत् सर्वं वृत्तान्तमकथयत्) ।

स०—वने सन्निवसन्तीति वनसन्निवासिनः तेषां वनसन्निवासिनाम् (उपपद समास) । आत्ता सत्क्रिया येन सः आत्तसत्क्रियः तस्मिन् आत्तसत्क्रिये (बहु०) । महीं भुङ्क्ते इति महीभुक् तेन महीभुजा (उपपद समास) । कृष्णायाः सदनम् इति कृष्णासदनम् (तत्पु०) । अनु पश्चात् जायते ये ते अनुजाः (उपपद समास), अनुजानां सन्निधिः अनुजसन्निधिः तस्मिन् अनुजसन्निधौ (तत्पु०) ।

व्या०—ईरयित्वा—ईर् + णिच् + क्त्वा । आचचक्षे—आङ् + ख्या (चक्ष्) + लिट्, अन्यपुरुष, एकवचन । 'पत्यौ गते' में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी है ।

घण्टापथ—इतीति । वनसन्निवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरम् **ईरयित्वोक्त्वा आत्तसत्क्रिये** गृहीतपारितोषिके गते याते सति । 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम् । ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते । अथ **महीभुजा** राज्ञा **कृष्णासदनं** द्रौपदीभवनं **प्रविश्य अनुजसन्निधौ तत् वनेचरोक्तं वचो** वाक्यं **आचचक्षे** आख्यातम् । अथवा कृष्णेति पदच्छेदः सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाचचक्षे आख्याता । चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् ॥२६॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥ २७ ॥

अ०—ततः द्रुपदात्मजा द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमा (सती) नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार ।

श०—ततः=तदनन्तर, उसके (=युधिष्ठिर के कहने के) बाद । द्विषतां= शत्रुओं (कौरवों) की । सिद्धिं=वृद्धि, समृद्धि, उन्नति, सफलता को । निशम्य= सुनकर । द्रुपदात्मजा= (राजा) द्रुपद की पुत्री, द्रौपदी । ततस्त्याः=उनसे

(= शत्रुओं से) आए हुए (प्राप्त हुए, उत्पन्न)। अपाकृतीः = अपकारों को, (अपकारों से उत्पन्न हुए) मानसिक विकारों को। विनियन्तुम् = नियन्त्रित रखने के लिए, रोकने के लिए। अक्षमा (सती) = असमर्थ होती हुई। नृपस्य = राजा (युधिष्ठिर) के। मन्युव्यवसायदीपिनीः = क्रोध (मन्यु) और उद्योग (व्यवसाय) को बढ़ाने वाली। गिरः = वाणी को, वचनों को। उदाजहार = कहा।

अनु०—उसके बाद (=युधिष्ठिर के कथन के उपरान्त) शत्रुओं की समृद्धी को सुनकर, उनसे (शत्रुओं से) प्राप्त हुए (अपमानों से उत्पन्न) मानसिक विकारों को नियन्त्रित करने में असमर्थ होती हुई द्रौपदी ने राजा (युधिष्ठिर) के क्रोध और उत्साह को बढ़ाने वाली वाणी (वचन) कहा।

सं० व्या०—युधिष्ठिरमुखात् शत्रूणां समृद्धिं श्रुत्वा द्रौपदी अतीव क्रुद्धा जाता। द्विषद्भ्यः आगतान् अपमानजन्यविकारान् निरोद्धुमसमर्था सा नृपस्य युधिष्ठिरस्य क्रोधोद्योगसंवर्द्धिनीं वाणीं कथितवती येन सः शत्रूणां विनाशाय प्रयतेत।

स०—आत्मनः जायते या सा आत्मजा (उपपद समास), द्रुपदस्य आत्मजा द्रुपदात्मजा (तत्पु०)। न क्षमा इति अक्षमा (नञ् समास)। मन्युश्च व्यवसायश्च मन्युव्यवसायौ (द्वन्द्व समास), मन्युव्यवसाययोः दीपिन्यः इति मन्युव्यवसाय-दीपिन्यः, ताः मन्युव्यवसायदीपिनीः (तत्पु०)।

व्या०—निशम्य—नि + शम् + क्त्वा–ल्यप्। ततस्त्याः—ततः आगताः इति ततस्त्याः; ततः (तद् + तसिल् = ततस्) + त्यप् + टाप्; तत इति अव्ययम्; 'अव्ययात् त्यप्' इति त्यप्प्रत्ययः। विनियन्तुम्—वि + नि + यम् + तुमुन्। उदाजहार—उत् + आ + हृ + लिट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) दुर्योधन की समृद्धि का वृत्तान्त सुनकर द्रौपदी की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और उसे दुर्योधन के द्वारा किए गए अपमानों का स्मरण हो जाता है। वह शत्रु-विनाश के लिए युधिष्ठिर को प्रेरित करने लगती है। वह भली-भाँति जानती है कि युधिष्ठिर शान्त स्वभाव के व्यक्ति हैं और यदि उन्हें प्रेरित न किया गया तो वे शत्रु-विनाश के लिए कुछ करने वाले नहीं हैं। अत

एव वह ऐसी बातें कहने लगी जिनसे युधिष्ठिर का क्रोध बढ़े और वे शत्रु-विनाश के लिए उद्योग करें। स्त्री प्रेरक शक्ति है—इसका सुन्दर निरूपण यहाँ किया जा रहा है। (२) तकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार।

घण्टापथ—निशम्येति। अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विपतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्तदनन्तरम्। ततो द्विपद्भ्य आगतास्ततस्त्याः। 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्। अपाकृतीः विकारान् विनियन्तुम् निरोद्धुम् अक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपिनीः संवर्धिनीः गिरो वाक्यान्युदाजहार जगादेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥१८॥

अ०—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेपः इव भवति। तथापि निरस्तनारीसमयाः दुराधयः मां वक्तुं व्यवसाययन्ति।

श०—भवादृशेषु = आप (युधिष्ठिर) जैसे (विद्वानों, बुद्धिमानों) के प्रति। प्रमदाजनोदितम् = स्त्रियों (स्त्रीजनों) के द्वारा कहा गया। अनुशासनम् = उपदेश, निर्देश, आदेश। अधिक्षेपः इव = तिरस्कार (अपमान) के समान, तिरस्कार जैसा। भवति = होता है। तथापि = तथापि, तो भी, फिर भी, विद्वानों के प्रति अनुशासन का तिरस्कार जैसा होने पर भी। निरस्तनारीसमयाः = छुड़ा दिया है (समाप्त कर दिया है, दूर कर दिया है) नारीजनोचित (स्त्रियों के अनुरूप) आचरण (आचार, मर्यादा, समय) को जिन्होंने (ऐसी), स्त्रियों की मर्यादा को छुड़ा देने वाली। दुराधयः = तीव्र मनोव्यथायें, दुःख देने वाली मानसिक व्यथायें। मां = मुझ (द्रौपदी) को। वक्तुं = बोलने के लिए, कहने के लिए। व्यवसाययन्ति = प्रेरित कर रही हैं, बाध्य (विवश) कर रही हैं।

अनु०—आप जैसे (बुद्धिमानों, विद्वानों) के प्रति स्त्रियों के द्वारा कहा गया (किया गया) उपदेश तिरस्कार के समान होता है। तथापि नारीजनोचित (स्त्रियों के अनुरूप) आचार (मर्यादा, शालीनता) को समाप्त कर देने वाली

तीव्र मनोव्यथायें मुझ (द्रौपदी) को कहने के लिए प्रेरित (विवश) कर रही हैं।

व्या०—हे युधिष्ठिर! अहं मन्ये यत् भवद्विधेषु विज्ञेषु विषये स्त्रीजनोक्त उपदेशवचनं अपमानमेव भवति। अतः न युक्तं वक्तुम्। वक्तमनुचितत्वेऽपि अहं किञ्चिद्वदिष्याम्येव। शत्रूणां समृद्धिं श्रुत्वा मम मनसि याः तीव्राः व्यथाः जाताः ताः मम नारीजनसुलभां शालीनतां विनाशयन्ति मां वक्तुं च प्रेरयन्ति। न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः।

स०—भवान् इव दृश्यन्ते ये ते भवादृशाः, तेष भवादृशेष (उपपद समास) प्रमदा चासौ जनश्च प्रमदाजनः (कर्मधारय), प्रमदाजनेन उदितं प्रमदाजनोदितम् (तत्पु०)। नारीणां समयः इति नारीसमयः (तत्पु०), निरस्तः नारीसमयः यैः ते निरस्तनारीसमयाः (बहु०)। दुष्टाः आधयः इति दुराधयः (प्रादि समास)।

व्या०—अनुशासनम्—अनु + शास् + ल्युट्। अधिक्षेपः—अधि + क्षिप् + घञ्। व्यवसाययन्ति—वि + अव + सो + णिच + लट्, अन्य पुरुष, बहुवचन।

टि०—(१) द्रौपदी यह जानती है कि युधिष्ठिर जैसे विद्वान् को यदि वह उपदेश करती है तो उससे युधिष्ठिर का अपमान ही होगा। किन्तु वह उपदेश किए बिना रह भी नहीं सकती। कौरवों के द्वारा अत्यधिक अपमानित होने के कारण वह मर्माहत हो गई है और अति तीव्र मनोव्यथा से पीड़ित है। यही कारण है कि नारीजनसुलभ शालीनता और लज्जा का परित्याग कर वह युधिष्ठिर को फटकार रही है। अत्यधिक अपमानित और दुःखी होने पर व्यक्ति अपना विवेक खो देता है। (२) उपमा तथा काव्यलिङ्ग अलंकारों की संसृष्टि।

घण्टापथ—भवादृशेष्विति। भवादृशा भवद्विधाः। पण्डिता इत्यर्थः। तेषु विषये। 'त्यदादिषु'—इत्यादिना कञ्। 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः। प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम्। वदेः क्तः। 'वचिस्वपि०' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। अनुशासनं नियोगवचनं अधिक्षेपः तिरस्कार एव भवति। अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः। तथापि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयाः त्याजितशालीनता-

रूपस्त्रीसमाचाराः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। दुराधयः समयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति। न किञ्चिदयुक्तं दुःखितानामिति भावः ॥२८॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अ०—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डं धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता।

श०—आखण्डलतुल्यधामभिः = इन्द्र (आखण्डल) के समान पराक्रम (प्रभाव, तेज) वाले। स्ववंशजैः = अपने कुल में उत्पन्न हुए। भूपतिभिः = राजाओं के द्वारा। चिरम् = बहुत काल (समय) तक। अखण्डं = सम्पूर्ण रूप से। धृता = धारण की गई, अपने अधिकार में रखी गई, पालन की गई, रक्षित। मही = पृथ्वी। त्वया = आप (युधिष्ठिर) के द्वारा। मदच्युता = मदस्रावी (मद जल बहाने वाले)। मतङ्गजेन = हाथी के द्वारा। स्रक् इव = पुष्प-माला की तरह। आत्महस्तेन = अपने हाथ से, अपनी चपलता के कारण (हाथी के पक्ष में—अपनी सूँड़ से)। अपवर्जिता = छोड़ दी, त्याग दी, फेंक दी।

अनु०—इन्द्र के समान पराक्रम (प्रभाव, तेज) वाले अपने कुल में उत्पन्न हुए (भरत इत्यादि) राजाओं के द्वारा बहुत काल तक सम्पूर्ण रूप से धारण की गयी (अपने अधिकार में रखी गई) पृथ्वी आप (युधिष्ठिर) के द्वारा स्वयं अपने हाथ से छोड़ दी गई, जिस प्रकार मद-जल बहाने वाले हाथी के द्वारा पुष्प-माला अपने सूँढ़ से फेंक दी जाती है।

व्या०—हे युधिष्ठिर! इन्द्रसदृशपराक्रमशालिनः भवतः पूर्वजाः राजानः भरतादयः इमां पृथिवीं समग्ररूपेण बहुकालपर्यन्तं भुक्तवन्तः (रक्षितवन्तः)। निजकुलोत्पन्नैः पूर्वजैः रक्षिता (भुक्ता) एषा पृथिवी भवता प्राणपणेनापि रक्षणीया। किन्तु भवता तु पृथिव्याः रक्षा न कृता। यथा मदमत्तः गजः स्वशिरसि धृतां पुष्पमालां स्वकीयेनैव शुण्डेन अधः क्षिपति तथैव भवतापि पूर्व-

पुरुषैः प्राप्ता एषा पृथिवी स्वकीयेन चापलेन परित्यक्ता। अहो विस्मयकरी भवतः मूढ़ता। भवतः प्रमादजनितैव एषा विपत्तिः न दैवकृता इति द्रौपद्याः अभिप्रायः।

स०—आखण्डलेन (इन्द्रेण) तुल्यं धाम येषां ते आखण्डलतुल्यधामानः तैः आखण्डलतुल्यधामभिः (बहु०)। स्वस्य वंशः स्ववंशः (तत्पु०), स्ववंशे जायन्ते ये ते स्ववंशजाः तैः स्ववंशजैः (उपपद समास)। भुवः पतयः भूपतयः तैः भूपतिभिः (तत्पु०)। नास्ति खण्डं यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा अखण्डम् (बहु०) अथवा न खण्डम् इति अखण्डम् (नञ् समास)। मदं च्योततीति मदच्युत् तेन मदच्युता (उपपद समास)। मतङ्गात् जायते इति मतङ्गजः, तेन मतङ्गजेन (उपपद समास)। आत्मनः हस्तः इति आत्महस्तः तेन आत्महस्तेन (तत्पु०)।

व्या०—'अखण्डम्' 'धृता' का क्रियाविशेषण है। अतः इसमें द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई। धृता—धृ + क्त + टाप। अपवर्जिता—अप + वृज् + णिच् + क्त + टाप्।

टि०—(१) पर्वतों के पंखों को तोड़ने (खण्ड-खण्ड करने) के कारण इन्द्र का नाम आखण्डल है। (२) मतंग ऋषि के शाप से चित्ररथ नामक गन्धर्व के पुत्र प्रियंवद को हाथी के रूप में जन्म लेना पड़ा था। अतः हाथी को 'मतंगज' कहा जाने लगा। (३) द्रौपदी युधिष्ठिर का फटकारती हुई कह रही है कि हम सब लोगों की विपत्ति के कारण आप ही हैं। कुलपरम्परा से प्राप्त राज्य का आपने जुआ खेलकर परित्याग कर दिया। आपने राज्य खोया है, आप ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। अतः आप को पुनः राज्य-प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए। (४) उपमा अलंकार।

घण्टापथ—अखण्डमिति। अखण्डलतुल्यधामभिः इन्द्रतुल्यप्रभावैः। स्ववंशजैः भूपतिभिः भरतादिभिः चिरम् अखण्डम् अविच्छिन्नं धृता मही त्वया मदच्युता मदं च्योततीति मदच्युत् क्विप्। तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिव आत्महस्तेन स्वकरेण, स्वचापलेनेत्यर्थः। अपवर्जिता परिहृता, त्यक्ता। स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ॥२९॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अ०—मूढधियः ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति । हि शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिताः इषवः इव प्रविश्य घ्नन्ति ।

श०—मूढधियः=मन्द बुद्धि वाले, विवेकशून्य, अविवेकी । ते=वे (लोग) । पराभवं = पराजय, अपमान, तिरस्कार । व्रजन्ति = जाते हैं, प्राप्त होते हैं । ये = जो । मायाविषु = मायावियों (माया का व्यवहार करने वालों, छल कपट करने वालों, कपटियों, कपटाचारियों) के प्रति । मायिनः = मायावी (माया करने वाले, कपटी) । न भवन्ति = नहीं होते हैं । हि = क्योंकि । शठाः = धूर्त, दुष्ट, चालाक, कुटिल व्यक्ति । तथाविधान् = उस प्रकार के (सरल एवं निष्कपट लोगों को) । असंवृताङ्गान् =अनाच्छादित शरीर वाले लोगों को, (कवच इत्यादि से) नहीं ढके हैं अङ्ग जिनके ऐसे लोगों को । निशिताः=तीखे, पैने, तीक्ष्ण, तेज । इषवः इव=बाणों की तरह । प्रविश्य= प्रविष्ट होकर, प्रवेश करके; आत्मीय बन कर, रहस्य को जानकर । घ्नन्ति = मार डालते हैं, विनष्ट कर देते हैं ।

अनु०—मन्द बुद्धि वाले (मूर्ख) वे लोग (सर्वदा) पराजय (तिरस्कार) को प्राप्त करते हैं जो कपटाचारियों (कपट करने वालों) के प्रति कपटी (कपट का व्यवहार करने वाले) नहीं होते हैं । क्योंकि धूर्त लोग उस प्रकार के (सरल एवं निष्कपट) लोगों के रहस्य को जानकर (भीतरी सम्पूर्ण बातों को जानकर) उन्हें उसी प्रकार विनष्ट कर देते हैं जिस प्रकार तेज बाण (कवच इत्यादि से) अनाच्छादित अङ्गों वाले लोगों के भीतर प्रविष्ट होकर उन्हें मार डालते हैं ।

सं० व्या०—शठे शाठ्यमाचरेद् इति प्रतिपादितमस्मिन् श्लोके । ये जनाः कपटयुक्तेषु कपटं न कुर्वन्ति ते मूर्खाः सर्वदा पराजयं प्राप्नुवन्ति । यथा तीक्ष्णाः बाणाः कवचादिभिः अनाच्छादिताङ्गानां पुरुषाणां शरीरं प्रविश्य तान् विनाशयन्ति, तथा कपटयुक्ताः जनाः सज्जनानां मनसि आत्मनः विश्वासमुत्पाद्य आत्मीयाः भूत्वा तान् सज्जनान् विनाशयन्ति । अत एव आर्जवं कुटिलेषु न नीतिः, कुटिलेष्व-

कौटिल्यं नोचितम्। शठेन दुर्योधनेन सह शाठ्यस्य व्यवहारः एव करणीयः इति द्रुपदात्मजायाः कथनस्याभिप्रायः।

स०—मूढा धीः येषां ते मूढधियः (बहु०)। तथा विधा येषां ते तथाविधाः (बहु०)। न संवृतम् असंवृतम् (नञ् समास), असंवृतानि अङ्गानि येषां ते असंवृताङ्गाः तान् (बहु०)।

व्या०—निशिताः–नि + शो + क्त। प्रविश्य–प्र + विश् + क्त्वा–ल्यप्। घ्नन्ति–हन् + लट् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) इस श्लोक से हमें महाकवि के नीतिशास्त्र-विषयक गम्भीर ज्ञान का पता चलता है। नीति का शाश्वत रहस्य यहाँ प्रतिपादित किया गया है। 'शठे शाठ्यमाचरेत्' 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' इत्यादि नीतिवाक्यों का निरूपण यहाँ सुन्दर ढंग से किया गया है। (२) द्रौपदी को नीतिशास्त्र का अच्छा ज्ञान था (३) उपमा अलंकार तथा हेतुपूर्वक समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार। दोनों के तिलतण्डुलवत् स्थित होने से संसृष्टि अलंकार।

घण्टापथ—व्रजन्तीति। मूढधियः निर्विवेकबुद्धयः। ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायावत्सु विषयेषु। 'अस्मायामेधा०' इत्यादिना विनिप्रत्ययः। मायिनः मायावन्तः व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः। न भवन्ति। अत्रैव अर्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति। शठाः अपकारिणो धूर्ताः तथाविधान् अकुटिलान् असंवृत्ताङ्गान् अवर्मितशरीरान् निशिताः इषवः इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा आत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि। 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' इति भावः॥२०॥

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥२१॥

अ०—अनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी त्वत् अन्यः कः इव नराधिपः गुणानुरक्तां कुलजां मनोरमाम् आत्मवधूम् इव (गुणानुरक्तां कुलजां मनोरमां) श्रियं परैः अपहारयेत्।

श०—अनुरक्तसाधनः = अनुकूल (अनुरागयुक्त) हैं सहायक जिसके ऐसा, अनुकूल रहने वाले सेवकों से युक्त। कुलाभिमानी = अपने कुल की

परम्परा पर अभिमान करने वाला, अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखने वाला। त्वत् अन्यः=तुम (युधिष्ठिर) से अन्य (दूसरा), तुमसे अतिरिक्त दूसरा। कः इव नराधिपः=कौन-सा राजा। गुणानुरक्तां=गुणों के कारण अनुराग रखने वाली, (शौर्य, सौन्दर्य इत्यादि) गुणों के कारण मुग्ध हुई (गुण-मुग्धा)। कुलजां=कुलीना, अच्छे कुल में उत्पन्न। मनोरमाम्=सुन्दर, मन को अपनी ओर आकर्षित (आकृष्ट) करने वाली, हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली। आत्मवधूम् इव=अपनी पत्नी (गृहलक्ष्मी) की तरह। [लक्ष्मी के पक्ष में — गुणानुरक्तां = संधि-विग्रह इत्यादि गुणों के कारण अनुराग रखने वाली अर्थात् स्थायी रूप से रहने वाली। कुलजां = कुल-परम्परा (वंश परम्परा) से प्राप्त हुई। मनोरमाम् = मन को प्रसन्न करने वाली]। श्रियं = राज-लक्ष्मी को। परैः = दूसरों के द्वारा, शत्रुओं के द्वारा। अपहार-येत् = अपहरण करवायेगा।

अनु०—अनुकूल रहने वाले सेवकों से युक्त तथा अपने कुल का अभिमान करने वाला तुम (युधिष्ठिर) से दूसरा कौन राजा (शौर्य, सौन्दर्य इत्यादि) गुणों के कारण मुग्ध हुई, अच्छे कुल में उत्पन्न हुई और हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली अपनी पत्नी की तरह संधि-विग्रह इत्यादि गुणों के कारण स्थायी रूप से रहने वाली, कुल-परम्परा से प्राप्त हुई और मन को प्रसन्न करने वाली राजलक्ष्मी का दूसरों के द्वारा अपहरण करवायेगा।

व्या०—अस्मिन् श्लोके पत्न्या सह राजलक्ष्म्याः तुलना कृता। अत्र द्रौपदी कथयति—लोके यथा भार्यायाः परैः अपहरणं गर्हितं अकीर्तिकरं प्रतिष्ठाविनाशकं च भवति तथैव राज्ञां कृते स्वराजलक्ष्म्याः परैः अपहरणमपि गर्हितं अपकीर्तिकरं प्रतिष्ठाविनाशकं च भवति। अनुकूलसहायवान् कुलीनत्वाभिमानी च भवदन्यः को नृपतिः विद्यते यः गुणमुग्धां (शौर्यसौन्दर्यादिभिः गुणैः अनुरागिणीं) कुलीनां (सत्कुलोत्पन्नां) मनोहारिणीं निजभार्यामिव संधिविग्रहादिभिः गुणैः स्थायिनीं कुलक्रमादागतां मनोमुग्धकारिणीं राजलक्ष्मीं परैः अपहारयेत्। कलत्रापहार-वल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञां महाहानिकरत्वात् अनुपेक्षणीय इति भावः। भवता तु स्वपत्नी राजलक्ष्मीः च उभे परैः अपहारिते। अहो विस्मयकरी ते मूढता।

स०—अनुरक्तं साधनं यस्य सः अनुरक्तसाधनः (बहु०)। कुलस्य अभिमानी (तत्पु०)। नराणाम् अधिपः इति नराधिपः (तत्पु०)। गुणैः अनुरक्ता इति गुणानुरक्ता ताम् (तृतीया तत्पु०) अथवा गुणेषु अनुरक्ता इति गुणानुरक्ता ताम् (सप्तमी तत्पु०)। कुले जायते इति कुलजा ताम् कुलजाम् (उपपद समास)। मनः रमयति इति मनोरमा ताम् मनोरमाम् (उपपद समास)। आत्मनः वधूः आत्मवधूः ताम् आत्मवधूम् (षष्ठी तत्पु०)।

व्या०—अपहारयेत्-अप + हृ + णिच् + विधिलिङ्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) श्लिष्ट पदों के अर्थ 'आत्मवधू' और 'श्रियम्' दोनों ओर सरलता से लग जाते हैं। (२) युधिष्ठिर ने अपने राज्य को, भाइयों सहित अपने को और द्रौपदी को जुए में दाँव पर लगाया था। इस कारण द्रौपदी मर्माहत है, मार्मिक मनोव्यथा से पीड़ित है, अपमानजन्य अग्नि उसके अन्दर धधक रही है। वह अपनी मार्मिक मनोव्यथा को अत्यन्त मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त कर रही है। वह युधिष्ठिर के हृदय को तीखे वाग्बाणों से वेध रही है। वह युधिष्ठिर को यह बतलाना चाह रही है कि उन्होंने अपनी पत्नी का और अपनी राजलक्ष्मी का शत्रुओं के द्वारा अपहरण कराया। संसार में कोई भी व्यक्ति इस प्रकार का कुकृत्य नहीं कर सकता है। द्रौपदी यह भी संकेत कर रही है कि चंचल होने पर भी लक्ष्मी युधिष्ठिर के पास स्थिरता से रह रही थी। लक्ष्मी युधिष्ठिर का परित्याग करके नहीं गई। युधिष्ठिर ने स्वयं लक्ष्मी का परित्याग किया है। अतः अब युधिष्ठिर का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह गई हुई लक्ष्मी को पुनः प्राप्त करे। (३) श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलंकार।

घण्टापथ—गुणेति। अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान्। उक्तं च कामन्दकीये 'उद्योगादनिवृत्तस्य सुसहायस्य धीमतः। छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी' इति। कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च। त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः। 'अन्यारात्०' इत्यादिना पञ्चमी। क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्च अनुरक्तामनुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियम् आत्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्य-

मरः। परैः शत्रुभिरन्यैश्च अपहारयेत् स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः। कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञां मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः॥ ३१॥

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥ ३२॥

अ०—नरदेव! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्तमानं भवन्तं उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरुं उच्छिखः अग्निः इव कथं न ज्वलयति।

श०—नरदेव=नरेन्द्र, नराधिप, राजन्, मनुष्यों के आराध्य देव। एतर्हि=अब, इस समय में, इस आपत्ति काल मे। मनस्विगर्हिते=मनस्वियों (मनस्विजनों, शूरजनों, स्वाभिमानी मनुष्यों) के द्वारा निन्दित (गर्हित)। वर्त्मनि=मार्ग में। विवर्तमानं=चलते हुए, अवस्थित, स्थित, शत्रुकृत दुर्दशा का अनुभव करते हुए। भवन्तं=आप (युधिष्ठिर) को। उदीरितः=उद्दीपित, उद्दीप्त, बढा हुआ। मन्युः=क्रोध, कोप। शुष्कं शमीतरुं=सूखे हुए (नीरस) शमी नामक (शीघ्रता से जल जाना है स्वभाव जिसका ऐसे) वृक्ष को। उच्छिखः=ऊपर की ओर उठ रही है लपटे (ज्वालायें, शिखायें) जिसकी ऐसे, ऊँची उठी हुई लपटों वाले। अग्निः इव=अग्नि की तरह। कथं=क्यों, किस कारण से। न ज्वलयति=नहीं जलाता है, (जला देता, जला डालता, जला रहा है)।

अनु०—हे राजा (युधिष्ठिर)! इस आपत्ति-काल में मनस्विजनों (स्वाभिमानी मनुष्यों) के द्वारा निन्दित मार्ग में चलते हुए (शत्रुकृत दुर्दशा का अनुभव करते हुए) आपको उद्दीप्त क्रोध उसी प्रकार क्यों नहीं जला डालता जिस प्रकार ऊँची उठी हुई लपटों वाली अग्नि सूखे हुए शमी-वृक्ष को जला डालती है।

सं०व्या०—शत्रुकृतेन अपमानेन व्यथिता दुर्दशामापन्ना च द्रौपदी प्रतीकाराय युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं करोति। हे नरेन्द्र! अस्मिन् आपत्काले यां शत्रुकृतां दुर्दशां भवान् सपरिवारः सम्प्राप्तः तां शूरजनाः निन्दन्ति। इमां दशामनुभवन्तं भवन्तं उद्दीप्तः क्रोधः तथा कथं न दहति यथा प्रज्वलितोऽग्निः शुष्कं शमीवृक्षं

भस्मसात्करोति । शत्रुविनाशाय भवतः क्रोधः कथं न प्रवर्तते, प्रतीकारार्थं भवान् कथं न प्रयतते ।

स०—नराणां देवः नरदेवः (षष्ठी तत्पु०) अथवा नरेषु देवः नरदेवः (सप्तमी तत्पु०) अथवा नरः देवः इव नरदेवः (उपमित कर्मधा०) । सम्बोधने—हे नरदेव । मनस्विभिः गर्हितं मनस्विगर्हितं तस्मिन् मनस्विगर्हिते (तृ० तत्पु०) । शमी चासौ तरुश्च इति शमीतरुः तं शमीतरुम् (कर्मधा०) । उद्गता शिखा यस्य सः उच्छिखः (बहु०) ।

व्या०—एतर्हि—इदम् + र्हिल् (स्वार्थे) 'इदमोर्हिल्' सूत्र से र्हिल् प्रत्यय हुआ । 'एतेतौ रथोः' सूत्र से इदम् को एत आदेश हुआ । विवर्तमानं—वि + वृत् + शानच् । उदीरितः—उत् + ईर् + णिच् + क्त । शुष्कं—शुष् + क्त । ज्वलयति—ज्वल् + णिच् + लट् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन । 'मितां ह्रस्वः' सूत्र से ज्वालयति के आ को अ होकर ज्वलयति बनता है ।

टि०-(१) द्रौपदी इस बात से बहुत पीड़ित और आश्चर्यचकित है कि शत्रुओं के द्वारा इतना अपमान मिलने पर भी युधिष्ठिर हाथ पर हाथ रखकर (अर्थात् निष्क्रिय) बैठे हैं । द्रौपदी को समझ में नहीं आता कि युधिष्ठिर को शत्रुओं पर क्रोध क्यों नहीं आता, वह शत्रुओं से अपना राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता (२) शत्रुओं को अपना राज्य देकर बन में ठोकरें खाते हुए घूमना, भाँति-भाँति के कष्टों को सहना, शत्रुओं से बदला लेने के लिए कोई प्रयत्न न करना—इस प्रकार का जीवन बिताना स्वाभिमानी मनुष्य नहीं चाहते—इस प्रकार का जीवन निन्दित है, प्रतिष्ठाविनाशक है, अशोभनीय है । (३) उपमा अलंकार तथा तकार और नकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार ।

घण्टापथ—भवन्तमिति । हे **नरदेव** नरेन्द्र, **एतर्हि** इदानीम् अस्मिन्नापत्काले ऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमोर्हिल्' इति र्हिल् प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—**मनस्विगर्हिते** शूरजनजुगुप्सिते **वर्त्मनि** मार्गे **विवर्तमानं** शत्रुकृतं दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः ।

भवन्तं त्वां उदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः। शुष्कं नीरसम् 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः। शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः। तम् शमीतरुम् शमीवृक्षम्। शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात् कृतम्। उच्छिखः उद्गतज्वालः। 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः। अग्निरिव वह्निरिव कथं न ज्वलयति। ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः॥ ३२॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥३३॥

अ०—अवन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः देहिनः स्वयम् वश्याः भवन्ति। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन (सता) जनस्य आदरः न, विद्विषा (सता) दरः न।

श०—अवन्ध्यकोपस्य = अव्यर्थ (सफल, अमोघ) क्रोध वाले, व्यर्थ (निष्फल) नहीं होता है क्रोध जिसका। आपदां विहन्तुः = आपत्तियों (विपत्तियों, क्लेशों) का विनाश करने वाले (विनाशक, निवारक, दूर करने वाले) के। देहिनः = शरीरधारी, प्राणी। स्वयमेव = स्वयं (स्वतः, अपने आप) ही। वश्याः भवन्ति = वश में (वशीभूत, अधीन, अधिकार में) हो जाते हैं। अमर्षशून्येन = क्रोधरहित। जन्तुना = प्राणी से, पुरुष से। जातहार्देन = मित्रता होने पर, स्नेह (हार्द = स्नेह) होने पर, अनुराग से युक्त होने पर। जनस्य = लोगों का। आदरः = सम्मान, सत्कार। न = नहीं (होता है)। विद्विषा = शत्रु होने पर, शत्रुता (विरोध) होने पर। दरः = भय। न = नहीं (होता है)।

अनु०—प्राणी स्वयं ही उस व्यक्ति के वश में हो जाते हैं, जिसका क्रोध व्यर्थ (निष्फल) नहीं होता है और जो आपत्तियों का विनाश करता है। क्रोधरहित व्यक्ति के स्नेह (अनुराग) से युक्त होने पर लोगों के द्वारा उसका आदर नहीं होता और शत्रुता से युक्त होने पर लोगों को उसका भय भी नहीं होता (क्रोधहीन व्यक्ति के मित्र उसका सम्मान नहीं करते और शत्रु उससे डरते नहीं)।

सं०व्या०—हे धर्मराज युधिष्ठिर ! राज्ञा यथाकालं पात्रानुरूपमवस्थानुरूपं च कोपः कार्यः। निग्रहानुग्रहसमर्थस्य विपत्विनाशकस्य च पुरुषस्य वशे सर्वे प्राणिनः स्वयमेव भवन्ति। अस्मिन् संसारे दृश्यते यत् क्रोधशून्यः पुरुषः मित्रैः सम्मानं न प्राप्नोति शत्रवश्च तस्मान्न न बिभ्यति। भवत्सदृशः यः पुरुषः यथाकालं न क्रुध्यति सः प्रसन्नः भवतु अप्रसन्नः वा भवतु तं कोऽपि न गणयति। अतः भवता शत्रुषु क्रोधः कार्यः।

स०—न वन्ध्यः अवन्ध्यः (नञ् समास), अवन्ध्यः कोपः यस्य सः अवन्ध्य-कोपः तस्य अवन्ध्यकोपस्य (बहु०)। न मर्षः अमर्षः (नञ् समास), अमर्षेण शून्य अमर्षशून्यः तेन (तृ० तत्पु०)। जातं हार्दं यस्य सः जातहार्दः (जातस्नेहः) तेन जातहार्देन (बहु०)।

व्या०—विहन्तुः—वि + हन् + तृच् + षष्ठी, एकवचन। वश्याः—वशं गच्छन्ति ये ते; वश + यत्। हृदयस्य कर्म हार्दम्, हृदय + अण्।

टि०—(१) जिसका क्रोध व्यर्थ नहीं होता = जो क्रोध आने पर शत्रुओं को दण्ड दे सकता है (२) सभी प्राणी उस व्यक्ति के वश में हो जाते हैं जो (क) क्रोध आने पर शत्रुओं को दण्डित करने में समर्थ होता है और जो (ख) अपनी और दूसरों की विपत्तियों को दूर करने में समर्थ होता है। (३) जो क्रोध के समय भी क्रोध नहीं करता उसके मित्र उसका सम्मान नहीं करते और शत्रु उससे डरते नहीं। ऐसा व्यक्ति मित्र हो अथवा शत्रु हो—इसका कोई महत्त्व नहीं है। (४) नकार और जकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास।

घण्टापथ—अवन्ध्येति। अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्य **अवन्ध्यकोपस्य**। अत एव **आपदां विहन्तुः** निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः। पुंस इति शेषः। देहिनो जन्तवः **स्वयमेव वश्याः** वशङ्गता **भवन्ति**। 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः। अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः। व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—**अमर्षशून्येन** निःकोपेन **जन्तुना**। कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया। हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। युवादित्वादण्। 'हृदयस्य हृल्लेखय-दण्लासेषु' इति हृदादेशः। **जातहार्देन** जातस्नेहेन सता **जनस्य आदरः न**। **विद्विषा**

द्विषता च सता दरो न। अमर्षहीनस्य रागद्वेषाविकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः। अथवा विद्विषा सता दरो भयन्न। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः। एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः। पुंवाक्येषु न दोषः। अतः स्थाने कोपः कार्यः। त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः॥ ३३॥

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः॥३४॥

अ०—(प्राक्) लोहितचन्दनोचितः महारथः अयं वृकोदरः (सम्प्रति) रेणुरूषितः (सन्) पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् सत्यधनस्य (ते) मानसं नो दुनोति कच्चित्।

श०—**लोहितचन्दनोचितः** = रक्त (लाल, लोहित, केशरयुक्त) चन्दन के योग्य, लाल चन्दन के लेप का अभ्यासी, लाल रंग का चन्दन लगाने में अभ्यस्त। **महारथः** = विशाल (बड़े, महान्) रथ पर चलने वाला, दस हजार धनुर्धारियों के साथ अकेला युद्ध करने वाला। **अयं वृकोदरः** = यह भीमसेन। **रेणुरूषितः (सन्)** = धूलि से भरा हुआ, धूलि से धूसरित हुआ। **पदातिः** = पैदल। **अन्तर्गिरि** = पर्वतों में, पर्वतों के अन्दर। **परिभ्रमन्** = घूमता हुआ, भटकता हुआ। **सत्यधनस्य (ते)** = सत्य को ही धन मानने वाले (आपके), सत्यव्रती (सत्यवादी) (आपके)। **मानसं** = मन (चित्त, हृदय) को। **नो दुनोति कच्चित्** = दुःखित (दुःखी, संतप्त) नहीं करता (बनाता) है क्या ?

अनु०—(पहले, आपके शासन-काल में) (शरीर में) लाल चन्दन के लेप का अभ्यासी और विशाल रथ में बैठकर चलने वाला यह भीमसेन (अब) धूलि से भरा हुआ, पैदल पर्वतों में इधर-उधर घूमता (भटकता) हुआ सत्यवादी आपके मन को दुःखित नहीं करता है क्या ?

सं० व्या०—अत्र भीमसेनस्य दयनीयामवस्थामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं कर्तुमिच्छति। अभ्यस्तरक्तचन्दनः यः भीमः पुरा विशालरथमारुह्य परिभ्रमति स्म सः एव सम्प्रति धूलिव्याप्तशरीरः पादाभ्यामेव पर्वतेषु परिभ्रमति। अनेनापि

सत्यवादिनः भवतः चेतसि पीडा न भवति किम्? अपूर्वा खलु ते सत्यवादिता (सत्यप्रियता)! अद्यापि सत्यमेव रक्ष्यते न तु भ्रातरः।

स०—लोहितं चन्दनं लोहितचन्दनम् (कर्मधा०), उचितं लोहित-चन्दनं यस्य सः लोहितचन्दनोचितः (बहु०)। 'वाहिताग्न्यादिषु' से उचित पद का प्रयोग अन्त में हुआ। महान् रथः यस्य सः महारथः (बहु०)। वृकस्य उदरमिव उदरं यस्य सः वृकोदरः (बहु०)। रेणुभिः रूषितः रेणुरूषितः (तृ० तत्पु०)। पादाभ्यामतति इति पदातिः (उपपद समास)। गिरिषु अन्तः इति अन्तर्गिरि (अव्ययीभाव समास)। सत्यं धनं यस्य सः सत्यधनः तस्य सत्यधनस्य (बहु०)।

व्या०—परिभ्रमन्—परि+भ्रम्+शतृ, प्रथमा एकवचन। दुनोति—दु+लट् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) 'सत्यधनस्य' पद का प्रयोग व्यंग्यपूर्ण है। इस व्यंग्योक्ति के द्वारा द्रौपदी कहना चाहती है कि आपने सत्य के चक्कर में पड़कर अपनी और हम सब लोगों की यह दुर्दशा कर डाली है और आश्चर्य तथा दुःख की बात तो यह है कि अब भी आप उस अनिष्टकारी सत्य के ही पीछे पड़े हुए हैं—सत्य की ही रक्षा कर रहे हैं, हम लोगों की नहीं। (२) इस श्लोक में भीम की पूर्व दशा और वर्तमान दशा में वैषम्य का निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है। शरीर में लाल चन्दन लगाने वाला तथा विशाल रथ में बैठकर चलने वाला भीम अब धूलि से व्याप्त होकर पैदल पर्वतों में भटक रहा है। वृकोदर (भेड़िए के पेट के समान पेट वाला—भेड़िए के समान बहुत भक्षण करने वाला) पद का प्रयोग करके द्रौपदी युधिष्ठिर को यह बतलाना चाहती है कि अब भीम को भर पेट (पेटभर) खाना भी नहीं मिल रहा है। इससे अधिक दुर्दशा और क्या हो सकती है? (३) 'लोहित' शब्द का अर्थ रुधिर (रक्त, खून) भी होता है और 'महारथ' का अर्थ 'दस हजार धनुर्धारियों के साथ अकेला युद्ध करने वाला' भी होता है। 'लोहितचन्दनोचितः' और 'महारथः' पदों का प्रयोग करके द्रौपदी युधिष्ठिर का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहती है कि शत्रुओं का वध करके उनके रुधिर से जिसका शरीर रंजित होने योग्य है;

जो अकेला ही दश हजार धनुर्धारियों के साथ युद्ध कर सकता है वह भीम आपके कारण (आपकी कृपा से, आपकी मूढ़ता से) धूलि-धूसरित होकर पर्वतों में इधर-उधर भटक रहा है और आप हाथ पर हाथ रखे बैठे हैं, सत्य की रक्षा कर रहे हैं।

घण्टापथ—परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचितः उचितलोहितचन्दनः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति साधुः। अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। महारथो रथचारी। उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः। पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी। 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इन्प्रत्ययः। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात् समासान्ताभावः। परिभ्रमन् अयं वृकोदरो भीमः। सत्यधनस्य इति सोल्लुण्ठवचनम्। अद्यापि सत्यमेव रक्ष्यते न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः। मानसं नो दुनोति कच्चित् न परितापयति। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम्॥ ३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥३५॥

अनु०—वासवोपमः यः उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यं वसु अयच्छत्, सः धनञ्जयः अधुना वल्कवासांसि आहरन् तव मन्युं कथं न करोति।

श०—वासवोपमः = इन्द्रतुल्य, इन्द्र के सदृश। यः = जो (अर्जुन), जिस (अर्जुन) ने। उत्तरान् कुरून् = उत्तर कुरु देश (जनपद) को, मेरु पर्वत के उत्तर में स्थित कुरु नामक देश (जनपद) को। विजित्य = जीतकर, अपने अधिकार में करके। प्राज्यम् = विपुल, प्रचुर, प्रभूत। अकुप्यं = सुवर्ण रजतादि। वसु = धन को। अयच्छत् = दिया था, प्रदान किया था, प्रदान करता था। सः धनञ्जयः = वह धन को जीतने वाला अर्जुन। अधुना =

अब, इस समय। वल्कवासांसि = वल्कल रूप वस्त्रों को, वल्कल (वृक्षों के त्वचा = छाल) वस्त्रों को। आहरन् = (वृक्षों से) लाता हुआ, जुटाता हुआ। तव मन्युं = (शत्रु के प्रति) तुम्हारे क्रोध को। कथं न करोति = क्यों उत्पन्न नहीं करता है।

अनु०—इन्द्र के तुल्य (पराक्रमी) जो (अर्जुन) उत्तर कुरु देश को जीतकर प्रचुर सुवर्ण रजतादि धन (आप को) दिया करता था वही (धन को जीतने वाला) अर्जुन इस समय वल्कल वस्त्रों को जुटाता हुआ (वृक्षों से लाता हुआ) आप के (शत्रु के प्रति) क्रोध को क्यों नहीं उत्पन्न करता है।

सं० व्या०—अत्र अर्जुनस्य दयनीयामवस्थामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं कर्तुमिच्छति। इन्द्रतुल्यः यः अर्जुनः पुरा उत्तरान् कुरुप्रदेशान् विजित्य प्रचुरं सुवर्णरजतात्मकं धन तुभ्यं दत्तवान् सः एव धनञ्जयः सम्प्रति वस्त्रनिर्माणार्थं वृक्षेभ्यः वल्कलवस्त्राणि आनयति। अर्जुनस्य एषा दीनदशा कस्मात् कारणात् तव चेतसि शत्रून् प्रति क्रोधं नोत्पादयति। अर्जुनस्य दीनदशामवलोक्य भवता कोपिना भवितव्यमित्यर्थः।

स०—वासवः उपमा (उपमानम्) यस्य सः वासवोपमः (बहु०)। न कुप्यम् अकुप्यम् (नञ् समास)। धनं जयतीति धनञ्जयः (उपपद समास)। वल्कानि एव वासांसि इति वल्कवासांसि (कर्मधा०)।

व्या०—विजित्य–वि + जि + क्त्वा–ल्यप्। अयच्छत्–दा + लङ् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन। आहरन्—आ + हृ + शतृ + प्रथमा, एकवचन।

टि०—इस श्लोक में अर्जुन की पूर्व दशा और वर्तमान दशा में वैषम्य का निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है। शत्रुओं को पराजित करके अर्जुन उनके धन को लाकर युधिष्ठिर को देता था। अब वही अर्जुन वृक्षों से वल्कलों (छालों) को लाकर युधिष्ठिर को देता है। इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन की शक्ति का कितना दुरुपयोग हो रहा है। इससे अर्जुन को तथा अर्जुन से स्नेह करने वाले व्यक्तियों को कितना कष्ट हो रहा होगा।

घण्टापथ—विजित्येति। वासवः इन्द्रः उपमा उपमानं यस्य सः वासवोपमः इन्द्रतुल्यः। यो धनञ्जयः। उत्तरान् कुरून् मेरोरुत्तरान् मानुषान्

देशविशेषान्। विजित्य प्राज्यं प्रभूतम्। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः। कुप्या-दन्यदकुप्यम् हेमरूप्यात्मकम्। 'स्यात् कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः। वसुं धनम् अयच्छद् दत्तवान्। 'पाघ्रा'—इत्यादिना दाणो यच्छादेशः। स धनञ्जयतीति धनञ्जयो अर्जुनः। 'संज्ञायां भृतृवृजि०'—इत्यादिना खच् प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषद०'—इत्यादिना मुमागमः। अधुना अस्मिन् काले। अधुना इति निपातनात् साधुः। तव वल्कवासांसि आहरन् कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति न उत्पादयति॥ ३५॥

नान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्॥३६॥

अ०—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं धृतिसंयमौ बाधितुं कथं न उत्सहसे।

श०—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती = वन-भूमि (वन-प्रदेश, वनान्त) रूपी शय्या (पर सोने से) कठिन (कठोर, रूक्ष) हो गए हैं शरीर (देह, आकृति) जिनके ऐसे। विष्वक् = सभी (चारों) ओर (तरफ) से। कचाचितौ = केशों (बालों) से व्याप्त (भरे हुए) (अर्थात् जिनके केश बढ़कर शरीर के चारों ओर लटक रहे हैं)। अगजौ = पर्वत (अग) में उत्पन्न हुए, पर्वतीय, पहाड़ी। गजौ इव = दो हाथियों की तरह। एतौ = इन दो। यमौ = यमलों, युगलों, जुडवाँ, एक साथ उत्पन्न हुए (माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव) को। विलोकयन् = देखते हुए। त्वं = तुम (युधिष्ठिर)। धृतिसंयमौ = धैर्य (धीरज संतोष) और संयम (आत्म-निग्रह, नियम) को। बाधितुं = त्यागने (छोड़ने, परित्याग करने) के लिए। कथं न = क्यों (किस कारण से) नहीं। उत्सहसे = प्रवृत्त (तैयार) होते हो।

अनु०—वन-भूमि (वन प्रदेश) रूपी शय्या (पर सोने के कारण) कठोर हुए शरीर वाले, चारों ओर केशों (बालों) से व्याप्त (भरे हुए), (अतएव) दो पहाड़ी हाथियों की तरह (दिखलाई पड़ते हुए) इन दो जुडवाँ भाइयों

(नकुल और सहदेव) को देखकर (देखते हुए) आप अपने धैर्य और संयम को छोड़ने के लिए तैयार (प्रवृत्त) क्यों नहीं होते ?

सं० व्या०—अत्र नकुलसहदेवयोः दयनीयामवस्थामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं करोति । पुरा भवतः शासनकाले ययोः नकुलसहदेवयोः सुकोमलाया शय्यायां शयनं भवति स्म तौ अधुना वनभूमौ शयनं कुरुतः । वनभूमिरेक तयोः कृते शय्या । अनेन तयोः शरीरे कठोरतरे सञ्जाते । पुरा ययोः सुन्दरस्य केशकलापस्य यथाकालं संस्कारः भवति स्म तयोः केशाः अधुना संस्काराभावात सर्वतः व्याप्ताः । अनेन इमौ नकुलसहदेवौ पर्वतीयौ कुञ्जरौ (गजौ) इव दृश्येते । अनयोः ईदृशीं दुर्दशां दृष्ट्वापि भवान् कस्मात् कारणात् सन्तोषनियमौ न जहाति । भवान् कथं स्वस्थचित्तः प्रतीकाररहितश्च । अहो भवतः महत धैर्यमिति भावः ।

स०—वनस्य अन्तः वनान्तः (षष्ठी तत्पु०), वनान्तः एव शय्या वना शय्या (कर्मधा०), अकठिना कठिना कृता इति कठिनीकृता (गति समास वनान्तशय्यया कठिनीकृता वनान्तशय्याकठिनीकृता (तृ० तत्पु०) वनान्त शय्याकठिनीकृता आकृतिः ययोः तौ वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती (बहु०) । कचैः आचितौ कचाचितौ (तृ० तत्पु०) । न गच्छतीति अगः [पक्षे नगः] अगे जायेते इति अगजौ [उपपद समास] । धृतिः च संयमश्च इति धृति संयमौ [द्वन्द्व] ।

व्या०—कठिनीकृत—कठिन + च्वि + कृ + क्त । विष्वक्—अव्यय आचित—आ + चि + क्त । अगज—अग + जन् + ड । विलोकयन्—वि + लोक् + शतृ + प्रथमा एकवचन । बाधितुं—बाध् + तुमुन् । उत्सहसे—उत् + सह् + लट्, अन्यपुरुष एकवचन ।

टि०—(१) द्रौपदी के कथन का तात्पर्य यह है—नकुल और सहदेव की दुर्दशा को देखकर भी युधिष्ठिर शान्त और प्रतीकार रहित हैं—यह आश्चर्य और दुःख की बात है । धैर्य और संयम की भी कोई सीमा होती है । युधिष्ठिर के लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि भाइयों की इस दुर्दशा को

देखकर वे अपने धैर्य और संयम को तिलाञ्जलि देकर शत्रु-विनाश के लिए उद्यत हो जाते। (२) अनुप्रास, यमक और उपमा की संसृष्टि।

घण्टापथ—वनान्तेति। वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ। 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती। विष्वक् समन्तात्। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इत्यमरः। कचाचितौ कचव्याप्तौ। विशीर्णकेशावित्यर्थः। अत एव अगजौ गिरिसम्भवौ गजाविव। स्थितौ एतौ यमौ युग्मजातौ माद्रीपुत्रावित्यर्थः 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः। विलोकयन् त्वं कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। बाधितुं नोत्सहते न प्रवर्तसे। 'शकधृष०' इत्यादिना तुमुन्। अहो ते महद्धैर्यमिति भावः॥ ३६॥

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥३७॥

अ०—अहम् इमां तावकीं धियं न वेद। चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु। परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति।

श०—अहम् = मैं (द्रौपदी)। इमां = इस। तावकीं = तुम्हारी, आप (युधिष्ठिर) की। धियं = बुद्धि (मति, चित्तवृत्ति) को। न वेद = नहं जानती हूँ (नहीं जान पा रही हूँ), नहीं समझ पाती (नहीं समझ पा रही हूँ)। चित्तवृत्तयः = चित्तवृत्तियाँ (मनोवृत्तियाँ), अन्तःकरण (मन, चित्त) की प्रवृत्तियाँ (वृत्तियाँ, व्यापार)। विचित्ररूपाः = अनेक रूप वाली, बहुविध, विभिन्न (भिन्न-भिन्न, विविध) प्रकार की। खलु = निश्चय ही। पराम् = बड़ी, प्रबल, महती। भवदापदं = आपकी विपत्ति (आपत्ति) को। विचिन्तयन्त्याः = सोचती हुई, विचार करती हुई। मम = मेरे, मुझ (द्रौपदी) के। चेतः = चित्त (मन, हृदय) को। आधयः = मनोव्यथायें, मानसिक व्यथायें। प्रसभं = बलपूर्वक, अत्यधिक रूप में। रुजन्ति = पीड़ित (व्यथित, व्याकुल, नष्ट) कर रही हैं।

अनु०—मैं (द्रौपदी) आपकी इस (= इस प्रकार की) बुद्धि को समझ

नहीं पा रही हूँ। निश्चय ही (लोगों की) चित्तवृत्तियाँ (मनोवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती है। (किन्तु) आपकी महती विपत्ति का चिन्तन करती हुई मेरे मन को मानसिक व्यथायें अत्यधिक व्यथित कर रही हैं।

सं व्या०—राज्ञः युधिष्ठिरस्य दुर्दशां दर्शयितुं द्रौपदी उपोद्धात रूपेण कथयति—स्वानुजानां दुर्दशां पश्यन्नपि स्वयं अत्यधिकं दुःखमनुभवन्नपि च भवान् स्वस्थचित्तः प्रतिकाररहितश्च। कस्मात् कारणात् एतत् सर्वं भवता क्रियते—एतादृशीं भवतः बुद्धिमहं न जानामि। महद् आश्चर्यं विद्यते यत् मम द्रौपद्याः (भवतः पत्न्याः) कृतेऽपि भवतः बुद्धिः अगम्या जाता अस्मिन् संसारे जनानां मनोवृत्तयः विविधप्रकाराः भवन्ति। किन्तु भवतः महतीं विपत्तिं दृष्ट्वा मम चित्तं मनोव्यथाः बलपूर्वकं विदारयन्ति। पश्यतामपि दुःसह दुःखजननी भवद्विपत्तिरनुभवितारं भवन्तं न विकरोति इति महच्चित्रमित्यर्थः।

स०—चित्तस्य वृत्तयः चित्तवृत्तयः (षष्ठी तत्पु०)। विचित्रं रूप यासां ताः विचित्ररूपाः (बहु०)। भवतः आपद् इति भवदापद् तां भवदापदम् (ष० तत्पु०)।

व्या०—तावकीं—युष्मद् + अण् + ङीप्। विचिन्तयन्त्याः—वि + चिन्त् + णिच् + शतृ + ङीप्; षष्ठी एकवचन। रुजन्ति—रुज् + लट्, अन्य-पुरुष, एकवचन।

टि०—द्रौपदी यह कहना चाहती है—आप स्वयं असह्य कष्ट सह रहे हैं, आपके अनुज अत्यन्त दीन-हीन अवस्था में अपने दिनों को काट रहे हैं और तब भी आप अपने राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। आपकी बुद्धि को क्या हो गया है—यह मैं नहीं समझ पा रही हूँ। हाँ, एक बात तो मैं जानती हूँ कि आपकी यह दुर्दशा देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है—फट रहा है।

घण्टापथ—इमामिति। इमां वर्तमानां, तव इमां तावकीं त्वदीयाम्। 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि। परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति

भावः । 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेशः । न चान्मदृष्टान्तेन आपन्नत्वाद् दुःखितमनुमातुं शक्यते । धीरादिप्वनैकान्तिकत्वादित्याशयेनाह-चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु । किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथाः 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति । 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट् । पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति मच्चित्रमित्यर्थः । चेत इति । 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति षष्ठी न भवति । तत्र शेषाधिकारात् शेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥३७॥

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

अ०—पुरा महाधनं शयनम् अधिरूढः यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः विबोध्यसे सः अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्रां जहासि ।

श०—पुरा=पहले, पूर्वकाल में, अपने शासन-काल में । **महाधनं**=बहुमूल्य । **शयनम्** = शय्या (पर्यङ्क) पर । **अधिरूढः** = आरूढ हुए, शयन करते हुए, सोये हुए । **यः** = जो (आप युधिष्ठिर) । **स्तुतिगीतिमङ्गलैः** = स्तुति (प्रशंसा-परक वर्णन) तथा गीति (गायन) रूप माङ्गलिक शब्दों (मङ्गल-ध्वनियों) से अथवा स्तोत्रगान (स्तुतिगान) रूप माङ्गलिक शब्दों से । **विबोध्यसे** = जगाये जाते थे । **सः** = वही (आप) । **अदभ्रदर्भां** = बहुत (प्रचुर, अदभ्र) कुशों (दर्भ) वाली, बहुत कुशों से परिव्याप्त (भरी हुई) । **स्थलीम्** = अपरिष्कृत भूमि पर । **अधिशय्य** = सोकर, शयन करके । **अशिवैः** = अशुभ, अमङ्गल-सूचक, अकल्याणकर, अभद्र । **शिवारुतैः** = शृगालियों (सियारिनियों) के शब्दों (बोलियों) के द्वारा । **निद्रां जहासि** = नींद को त्यागते (छोड़ते) हो, निद्रा का परित्याग करते हो, जागते हो ।

अनु०—पहले (अपने शासन-काल में) बहुमूल्य शय्या पर सोये हुए जो (आप युधिष्ठिर) स्तुतिपरक गान रूपी माङ्गलिक शब्दों से जगाये जाते

थे, वही (आप) अब प्रचुर कुशों से परिव्याप्त (भरी हुई) अपरिष्कृत भूमि पर शयन करके श्रृगालियों के अशुभ (अमङ्गलसूचक) शब्दों (बोलियों) के द्वारा नींद छोड़ते हैं (जागते हैं) ।

सं०व्या०—अस्मिन् श्लोके युधिष्ठिरस्य दुर्दशामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं कर्तुमिच्छति । हे राजन् ! पूर्वस्मिन् काले यदा भवान् राज्यसिंहासनारूढः आसीत् तदा निशायां बहुमूल्यशय्यायां शयानः भवान् प्रातः स्तुतिगायनरूपैः मङ्गलशब्दैः निद्रां परित्यजति स्म । किन्तु अधुना कुशबहुलायां अपरिष्कृतायां वनभूमौ सुप्तः भवान् प्रातः अशुभैः श्रृगालीशब्दैः निद्रां परित्यजति । एतादृशीं विपत्तिमनुभवन्नपि भवान् प्रतीकाररहितः इति महदाश्चर्यम् । वयं तु भवतः क्लेशेन अत्यन्तं व्यथिताः भवामः ।

स०—महत् धनं (मूल्यं) यस्य तत् महाधनम् (बहु०) । स्तुतयश्च गीतयश्च इति स्तुतिगीतयः (द्वन्द्व) अथवा—स्तुतीनां गीतयः इति स्तुतिगीतयः—(षष्ठी तत्पु०), स्तुतिगीतयः एव मङ्गलानि इति स्तुतिगीतिमङ्गलानि तैः स्तुतिगीतिमङ्गलैः (कर्मधा०) । अदभ्राः दर्भाः यस्याः सा अदभ्रदर्भा ताम् अदभ्रदर्भाम् (बहु०) । न शिवानि अशिवानि तैः अशिवैः (नञ् समास) । शिवानां रुतानि शिवारुतानि तैः शिवारुतैः (षष्ठी तत्पु०) ।

व्या०—अधिरूढः—अधि + रुह् + क्त । शयनम्—(आसनम्, आस्तरणम्) शी + ल्युट् । विबोध्यसे—वि + बुध् + णिच् + लट्, मध्यमपुरुष, एकवचन, भूत अर्थ में लट् । अधिशय्य—अधि + शी + क्त्वा—ल्यप्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से अधि उपसर्ग के योग में 'शीङ्' धातु के अधिकरण 'स्थली' की कर्म संज्ञा हुई और द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ । जहासि—हा + लट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।

टि०—वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास, विषम अलंकार ।

घण्टापथ—पुरेति । यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम् । 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः । शयनं शय्याम् अधिरूढः सन् । स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः स्तुतिगीतिमंगलैः करणभूतैः पुरा विबोध्यसे । वैतालिकैरिति शेषः ।

पूर्वं बोधित इत्यर्थः। 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट्। स त्वम् अदभ्र-दर्भाम् बहुकुशाम्। 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः इति। 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामरः। स्थलीम् अकृत्रिमभूमिम्। 'जानपद०'—इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप्। एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम्। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम्। अधिशय्य शयित्वा। 'अयङ्यिक्ङिति' इत्ययङादेशः। अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टु-वाशितैः। 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती। निद्रां जहासि। अद्येति शेषः॥ ३८॥

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥३९॥

अ०—(हे) नृप! यत् एतत् (ते वपुः) पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिनः ते तद् वपुः यशसा समं परं कार्श्यं परैति।

श०—नृप = हे राजन् (युधिष्ठिर)। यत् एतत् = जो यह (आपका शरीर)। पुरा = पहले, पूर्व काल में, अपने शासन-काल में। द्विजातिशेषेण = ब्राह्मणों के द्वारा भोजन करने के पश्चात् शेष बचे हुए, ब्राह्मण भोजन के बाद अवशिष्ट। अन्धसा = अन्न से। रामणीयकम् = रमणीयता (मनोहरता, सुन्द-रता) को। उपनीतम् = प्राप्त हुआ था। अद्य = आज। वन्यफलाशिनः = वन में उत्पन्न होने वाले फलों को खाने वाले। ते = आपका। तद् वपुः = वह शरीर। यशसा समं = यश (कीर्ति) के साथ। परं कार्श्यं = अत्यधिक कृशता (क्षीणता, दुर्बलता) को। परैति = प्राप्त हो रहा है।

अ०—हे महाराज! (आपका) जो यह (शरीर) पहले ब्राह्मणों के द्वारा भोजन करने के पश्चात् शेष बचे हुए अन्न से रमणीयता को प्राप्त हुआ था (अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता था), वन में उत्पन्न होने वाले फलों को खाने वाले आपका वही शरीर आज कीर्ति के साथ-साथ अत्यधिक कृशता को प्राप्त हो रहा है (अत्यधिक दुर्बल हो रहा है)।

सं० व्या०—युधिष्ठिरस्य शरीरस्य दुर्दशामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दी-

पनं कर्तुमिच्छति। हे राजन्! पूर्वस्मिन् काले यदा भवान् राज्यसिंहासनारूढः आसीत् तदा ब्राह्मणभुक्तावशिष्टान्नभक्षणेन तव शरीरं रमणीयमासीत्। अधुना वन्यानि फलान्यश्नतः भवतः तदेव शरीरं क्षीणतां प्राप्नोति। पुरा दानादिना भवतः यशः यथा प्रवृद्धमासीत् तथैव भवतः शरीरमपि पवित्रान्नभक्षणेन रमणीयमासीत्। इदानीं तु राज्यनाशात् दानाभावे कीर्तिनाशः भवति, पवित्रभोजनाभावे च शरीरं कृशं भवति।

स०—द्वे जाती (जन्मनी) येषां ते द्विजातयः (बहु०) द्विजातीनां शेषं (शेषः वा) इति द्विजातिशेषम् तेन द्विजातिशेषेण (ष० तत्पु०)। वने भवं वन्यम्। वन्यानि फलानि इति वन्यफलानि (कर्मधा०) वन्यानि फलानि अश्नाति इति वन्यफलाशिन् (वन्यफलाशी) तस्य वन्यफलाशिनः (उपपद समास)।

व्या०—रमणीयस्य भावः रामणीयकम्; रमणीय + वुञ (अक)। कृशस्य भावः कार्श्यम्; कृश + ष्यञ्। परैति—परा + इ + लट, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) दुर्योधन ने कपट का आश्रय लेकर युधिष्ठिर के राज्य को अपने अधीन कर लिया। आज युधिष्ठिर वन में इधर-उधर ठोकर खा रहा है। इधर-उधर भटकते रहने से तथा यथेष्ट भोजन के अभाव में युधिष्ठिर का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है। दानादि के अभाव में युधिष्ठिर का यश भी अत्यन्त क्षीण हो गया है। जब युधिष्ठिर राजा थे तब अनेक ब्राह्मण उनके यहाँ भोजन करते थे। इससे उन्हें यश मिलता था। आज तो उनके लिए अपना पेट भरना भी कठिन है। अतः दानादि के अभाव में उन्हें अब यश नहीं मिलता। द्रौपदी युधिष्ठिर को बतलाना चाहती है कि उनका शरीर भी क्षीण हो गया है और यश भी। शरीर और यश का क्षीण होना अत्यन्त अहितकर है। शरीर और यश की रक्षा के लिए शत्रु से राज्य पुनः प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। (२) दो वस्तुओं का एक साथ कथन होने से 'सहोक्ति' अलंकार।

घण्टापथ—पुरेति। हे नृप, यदेतत्पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसान्नेन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः। रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम्। नयतेर्द्विकर्मकत्वात्। प्रधाने कर्मणि क्तः। प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् इति वचनात्। अद्य वन्यफलाशिनः ते तव वपुर्यशसा सम परमन्तिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति। उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः। अत्र सहोक्तिरलंकारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् इति॥ ३९॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥ ४०॥

अ०—अनारतं मणिपीठशायिनौ यौ (ते चरणौ) (पुरा) राजशिरःस्रजां रजः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां वनेषु निषीदतः।

श०—अनारतं = निरन्तर। मणिपीठशायिनौ = मणिमय (रत्नजटित) पादपीठ पर अवस्थित (स्थित, विद्यमान) रहने वाले। यौ (ते चरणौ) = (आप के) जिन (चरणों) को। राजशिरःस्रजां = राजाओं के सिर पर स्थित पुष्प-मालाओं का। रजः=पराग। अरञ्जयत् = रंग देता था (अलंकृत करता था)। तौ ते चरणौ = वही तुम्हारे (आप के) चरण। मृगद्विजालूनशिखेषु = हरिणों (मृगों) और ब्राह्मणों (ऋषियों, तपस्विजनों) के द्वारा तोड़ लिए गए हैं अग्रभाग (शिखायें) जिनकी, हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा तोड़े गये अग्रभाग वाले। बर्हिषां वनेषु = कुशाओं (कुशों, दर्भों) के वनों (अरण्यों, जङ्गलों) में, कुश—काननों में, कुश—समूहों में। निषीदतः = पड़ते हैं, स्थित रहते हैं, भटकते रहते हैं।

अनु०—निरन्तर मणिमय (रत्नजटित) पाद-पीठ पर विद्यमान रहने वाले (आप के) जिन (चरणों) को (प्रणाम करने के लिए आने वाले सामन्त) राजाओं के सिर पर स्थित पुष्प—मालाओं का पराग रंग देता था, वही आप के चरण (अब) उन कुश-काननों (कुश-वनों, कुशसमूहों) में रखे जाते हैं

(भटकते रहते हैं) जिनके अग्रभाग हरिणों (मृगों) और ब्राह्मणों (ऋषियों) के द्वारा तोड़ दिए गए हैं।

सं० व्या०—अस्मिन् श्लोके युधिष्ठिरस्य दुर्दशामुक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरस्य कोपोद्दीपनं कर्तुमिच्छति। हे राजन्! पूर्वस्मिन् काले यदा भवान् गन्धसिंहासना-सीनः आसीत् तदा भवतः चरणौ निरन्तरं रत्ननिर्मितपादपीठे विराजमानौ आस्ताम्। प्रणमतां सामन्तनृपाणां मुकुटस्थितपुष्पमालानां परागः भवच्चरणौ अरञ्जयत्। अधुना वनवासकाले तु इतस्ततः संचरतः भवतः तौ एव चरणौ हरिणतपस्विजनच्छिन्नाग्रभागेषु कुशानां काननेषु तिष्ठतः। छिन्नाग्रत्वात् कुशानां स्पर्शः दुःसहः वर्तते। तत्र चरणन्यासेन महान् क्लेशः जायते। इयं भवतः दुर्दशा जातेत्यर्थः।

स०—न आरतम् अनारतम् (नञ समास)। मणीनां पीठम् इति मणिपीठम् (षष्ठी तत्पु०) (अथवा मणिमयं पीठम् इति मणिपीठम्—मध्यमपद-लोपी कर्मधा०), मणिपीठे शयाते इति मणिपीठशायिनौ (उपपद समास)। राज्ञां शिरांसि इति राजशिरांसि (षष्ठी तत्पु०), राजशिरसां स्रजः इति राजशिरः-स्रजः तासां राजशिरःस्रजाम् (षष्ठी तत्पु०)। मृगाश्च द्विजाश्च इति मृगद्विजाः (द्वन्द्व), मृगद्विजैः आलूनाः इति मृगद्विजालूनाः (तृ० तत्पु०), मृगद्विजालूनाः शिखाः येषां तेषु मृगद्विजालूनशिखेषु (बहु०)।

व्या०—अरञ्जयत्—रञ्ज् + णिच् + लङ्, अन्यपुरुष, एकवचन। निषीदतः—नि + सद् + लट्, अन्यपुरुष, द्विवचन।

टि०—(१) जब युधिष्ठिर राजा थे तब उनके यहाँ सामन्त राजाओं की भीड़ लगी रहती थी। प्रतिदिन प्रणाम के लिये आने वाले राजा उनके चरणों में झुके रहते थे। राजाओं के शिरों की पुष्प-मालाओं के पराग से युधिष्ठिर के चरण रंग जाते थे। वे ही चरण आज उन कुश-समूहों में रखे जाते हैं जिनके अग्र भाग हरिणों के द्वारा खा लिए गए हैं और तपस्विजनों के द्वारा यागादि के लिए काट लिए गए हैं। ऐसे कुश-समूहों पर पड़ने से युधिष्ठिर के चरण क्षत-विक्षत हो गए हैं। युधिष्ठिर की यह दुर्दशा द्रौपदी के हृदय को विदीर्ण कर रही है। (२) वृत्त्यनुप्रास।

घण्टापथ—अनारतमिति। अनारतम् अजस्रम्। मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठस्थायिनौ यौ चरणौ राजशिरःस्रजां नमद्भूपालमौलिस्रजां रजः परागः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगैः द्विजैश्च तपस्विभिः आलूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम्। 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः। वनेषु काननेषु निषीदतः तिष्ठतः ॥ ४० ॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

अ०—यत् इयं दशा द्विषन्निमित्ता ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयति इव। परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदां मानिनां पराभवः अपि उत्सवः एव (भवति)।

श०—यत् = यतः, क्योंकि। इयं दशा = यह दशा (दुर्दशा)। द्विषन्निमित्ता = शत्रु (कौरव) हैं निमित्त (कारण) जिसके ऐसी, शत्रुओं के कारण उत्पन्न हुई, शत्रुकृत, शत्रुजन्य है। ततः = अतः, इसलिए। मे मनः = मेरे मन को। समूलम् = जड़ सहित, जड़ से, पूर्ण रूप से। उन्मूलयति इव = उखाड़ सी रही है, उखाड़ जैसे रही है, मानो उखाड़ रही है। परैः = शत्रुओं के द्वारा। अपर्यासितवीर्यसम्पदां = नष्ट (समाप्त) नहीं की गई है पराक्रम रूपी सम्पत्ति (अथवा पराक्रम और सम्पत्ति) जिनकी ऐसे। मानिनां = मनस्विजनों का स्वाभिमानी पुरुषों का। पराभवः अपि = पराजय, तिरस्कार, विपत्ति भी। उत्सवः एव = उत्सव (सुखप्रद, हर्ष का हेतु) ही है।

अनुवाद—यतः (क्योंकि) (आप और हम सब लोगों की) यह दशा (दुर्दशा) शत्रुओं (कौरवों) के कारण है, अतः (यह दुर्दशा) मेरे मन को जड़सहित (समूल, पूर्ण रूप से) उखाड़ सी रही है (अर्थात् मुझे अत्यधिक व्यथित कर रही है)। जिन मनस्विजनों (स्वाभिमानी पुरुषों) की पराक्रम रूपी सम्पत्ति (पराक्रम और सम्पत्ति) शत्रुओं के द्वारा विनष्ट (समाप्त) नहीं होती उनके लिए पराजय (विपत्ति) भी उत्सव (हर्ष का हेतु) ही है।

सं० व्या०—मनस्विजनानां कृते मानहानिः दुःसहा भवति न त्वापदि-

त्युक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरं प्रतीकाराय प्रेरयति। हे राजन्! यतो हि भवतः अस्माकं च इयं दुर्दशा शत्रुकृताऽस्ति अत एव मम मनसि महान् विषादः वर्तते। शत्रुकृता ईदृशी दुर्दशा मनस्विनां कृते अपमानजनिका भवति। शत्रुभिः अविनश्वरलसम्पदां मनस्विनां कृते पराजयोऽपि हर्षहेतुः भवति। भाग्यवशादागता विपत् सोढुं शक्यते किन्तु मानहानिस्तु दुःसहा भवति। अत एव भवता प्रतीकारः विधेयः इत्यर्थः।

समासः—द्विषन्तः निमित्तं यस्याः सा द्विषन्निमित्ता (बहु०)। न पर्यासिता अपर्यासिता (नञ् समास), वीर्यञ्च सम्पच्च इति वीर्यसम्पदौ (द्वन्द्व), अपर्यासिते वीर्यसम्पदौ येषां ते अपर्यासितवीर्यसम्पदः तेषाम् अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् (बहु०); अथवा वीर्यमेव सम्पत् इति वीर्यसम्पत् (कर्मधा०) अपर्यासिता वीर्यसम्पद् येषां ते···(बहु०) तेषाम्···।

व्या०—उन्मूलयति–उन्+मूल्+णिच्+लट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०— १) जैसे आँधी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देती है और वह वृक्ष फल नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार वर्तमान दुर्दशा ने द्रौपदी के मन को अत्यधिक व्यथित कर दिया है और वह किंकर्तव्यविमूढ हो गई है। उसका धैर्य समाप्तप्राय है। (२) उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, वृत्त्यनुप्रास—इन अलंकारों की संसृष्टि।

घण्टापथ—द्विषदिति। यत् यतः कारणादियं दशावस्था। 'दशावर्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा द्विषन्निमित्ता शत्रुकृता। 'द्विषोऽमित्रे' इति ·शतृप्रत्ययः। ततः मे मनः समूलं साशयं उन्मूलयतीव उत्पाटयतीव। दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह—परैरिति। परैः शत्रुभिः अपर्यासिता अपर्यावर्तिता वीर्यसम्पत् येषां तेषां मानिनां पराभवो विपदप्युत्सव एवेति वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः। मानहानिर्दुःसहा न त्वापदिति भावः ॥४१॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

अ०—(हे) नृप! शान्तिं विहाय विद्विषां वधाय तत् धाम पुनः सन्धेहि। प्रसीद। निःस्पृहाः मुनयः शत्रुन् अवधूय शमेन सिद्धिं व्रजन्ति, भूभृतः न।

श०—(हे) नृप = हे राजन्। शान्तिं = शान्ति को। विहाय = छोड़कर, त्याग कर। तत् = उस (प्रसिद्ध)। धाम = (क्षात्र, क्षत्रियोचित) तेज को। विद्विषां = शत्रुओं के। वधाय = वध (संहार, विनाश) के लिए। पुनः = फिर से। सन्धेहि = धारण कीजिए। प्रसीद = प्रसन्न होइये। निःस्पृहाः = निष्काम, कामना (इच्छा) से रहित, जिन्हें किसी प्रकार की इच्छा नहीं वे। मुनयः = मुनि लोग, तपस्वी लोग। शत्रून् = (काम, क्रोध इत्यादि छः प्रकार के अन्तः) शत्रुओं को। अवधूय = तिरस्कृत (जीत) करके। शमेन = शान्ति के द्वारा। सिद्धिं = सिद्धि को, सफलता को। व्रजन्ति = प्राप्त करते हैं। भूभृतः न = राजा लोग नहीं।

अनु०—हे राजन्! शान्ति को छोड़ कर शत्रुओं के विनाश के लिए उस (प्रसिद्ध क्षात्र) तेज को पुनः धारण कीजिए। प्रसन्न होइये। मुनि लोग ही (काम, क्रोध इत्यादि छः प्रकार के अन्तः) शत्रुओं को जीतकर शान्ति के द्वारा (मोक्षरूपी) सिद्धि को प्राप्त करते हैं, राजा लोग (राज्यप्राप्ति रूपी सिद्धि को शान्ति के द्वारा प्राप्त) नहीं (करते)।

सं० व्या०—कर्तव्योपदेशं कुर्वती द्रौपदी युधिष्ठिरं शत्रूणां वधाय प्रेरयति। हे राजन्! शान्तिं परित्यज। शत्रूणां वधाय तत् क्षत्रियजनोचितं तेजः पुनः धारय। प्रसन्नः भव। दीनतां परित्यज्य उत्साहसम्पन्नः भव। शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेन—ईदृशः विचारः तव मनसि न भवतु। आकाङ्क्षाविहीनाः तपस्विनः एव कामक्रोधादिषड्रिपून् विजित्य शमेन मोक्षरूपां सिद्धिं प्राप्नुवन्ति। राज्ञां राज्यप्राप्तिरूपा सिद्धिस्तु कथमपि शमेन न भवति। राज्ञां सिद्धिस्तु बलायत्तैव वर्तते। कैवल्यकार्यवत् राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः।

स०—निर्गता स्पृहा येषां ते निःस्पृहाः (बहु०)। भुवं बिभर्ति ये ते भूभृतः (उपपद समास)।

व्या०—विहाय–वि + हा + क्त्वा–ल्यप्। सन्धेहि—सम् + धा + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। प्रसीद—प्र + सद् + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। अवधूय—अव + धू + क्त्वा–ल्यप्।

टि०—(१)—द्रौपदी ने अब तक युधिष्ठिर पर आक्षेप किये हैं—उसके हृदय को वाणी रूपी बाणों से वेधा है और उसे अपने कर्तव्य के प्रति सजग (जागरूक) किया है। इस श्लोक से अनुशासन प्रारम्भ होता है (दे० २८ वा श्लोक)। वर्तमान परिस्थिति में युधिष्ठिर को क्या करना चाहिए—इसका उपदेश वह कर रही है। (२) सांसारिक विषयों की ओर दौड़ने वाले अन्तःकरण की सांसारिक विषयों में अरुचि उत्पन्न करके उसे ब्रह्म-ज्ञान के साक्षात्कार के साधनभूत श्रवण, मनन इत्यादि की ओर लगाने वाली मन की एक वृत्ति को शम कहते हैं। संसार से विरक्त मुनि लोग शम के द्वारा मोक्षरूपी सिद्धि प्राप्त करते हैं। राजा लोग राज्यप्राप्ति रूपी सिद्धि को शम के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते हैं। राज्य की प्राप्ति के लिए बल और उत्साह की आवश्यकता है। (३) नकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार।

घण्टापथ—विहायेति। हे नृप, शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि अङ्गीकुरु। प्रसीद। प्रार्थनायां लोट्। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्याह—व्रजन्तीति। निस्पृहाः मुनयः शत्रून् अवधूय निर्जित्य। शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति। भूभृतस्तु न। कैवल्यकार्यवद् राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः॥ ४२॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥ ४३॥

अ०—धामवतां पुरःसराः यशोधनाः भवादृशाः ईदृशं सुदुःसहं निकारं प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत् हन्त मनस्विता निराश्रया (सती) हता।

श०—**धामवतां** = तेजस्वी (जनों) में, तेजस्वियों में। **पुरःसराः** = अग्रणी, अग्रेसर, प्रमुख। **यशोधनाः** = यश (कीर्ति) को ही धन समझने (मानने) वाले, यश ही है धन जिनका ऐसे, यश रूपी धन वाले। **भवादृशाः** = आप (युधिष्ठिर) जैसे व्यक्ति, आपके सदृश व्यक्ति। **ईदृशं** = ऐसे, इस

प्रकार के। सुदुःसहं = अत्यन्त असह्य (असहनीय), जिसका सहन करना अत्यन्त कठिन है। निकारं = अपमान (तिरस्कार, अनादर) को। प्राप्य = प्राप्त करके, पाकर। रतिम् = सन्तोष को, धैर्य को। अधिकुर्वते = स्वीकार कर लेते हैं, धारण कर लेते हैं। चेत् = यदि। हन्त = खेद है, दुःख है। मनस्विता = स्वाभिमानता, अभिमानशालिता। निराश्रया = आश्रयविहीन (होकर), शरणरहित (होकर)। हता = मर गई (मर जायेगी) विनष्ट हो गई (विनष्ट हो जायेगी)।

अनु०—तेजस्वियों (तेजस्विजनों) में अग्रणी (प्रमुख) और यश (कीर्ति) को ही धन समझने वाले आप (युधिष्ठिर) जैसे व्यक्ति भी यदि इस प्रकार के अत्यन्त असहनीय अपमान को प्राप्त करके सन्तोष कर लें तो बड़े दुःख की बात है कि स्वाभिमानता आश्रयविहीन (शरणरहित) होकर विनष्ट हो जायेगी।

सं० व्या०—पराक्रमः एवोचितः न सन्तोषः इत्युक्त्वा द्रौपदी युधिष्ठिरं प्रतीकाराय प्रेरयति। हे धर्मराज युधिष्ठिर! तेजस्विजनानां मध्ये अग्रेसराः, यशः एव धनं मन्यमानाः भवत्सदृशाः महापुरुषाः अपि यदि एतादृशमसह्यं पराभवं (तिरस्कारं) प्राप्य सन्तोषं स्वीकुर्वते तदा मनस्विजनैकशरणा मनस्विता कुत्र स्थास्यति। शरणाभावे सा तु विनष्टैव भविष्यतीति विचिन्त्य मे मनसि महान् विषादः विद्यते। अतः पराक्रमितव्यमिति भावः।

स०—पुरः सरन्ति ये ते पुरःसराः (उपपद समास)। यशः एव धनं येषां ते यशोधनाः (बहु०)। भवान् इव दृश्यन्ते ये ते भवादृशाः (उपपद समास)। अतिशयेन दुःसहं सुदुःसहम् (प्रादि तत्पु०)। निर् (निर्गतः अथवा नास्ति) आश्रयः यस्याः सा निराश्रया (बहु०)।

व्या०—सुदुःसहम्—सु—दुर् + सह् + खल्। निकारम्—नि + कृ + घञ्। प्राप्य—प्र + आप् + क्त्वा—ल्यप्। रतिम्—रम् + क्तिन्। अधिकुर्वते—अधि + कृ + लट्, अन्यपुरुष, बहुवचन। हता—हन् + क्त।

टि०—(१) दुर्योधन आदि कौरवों ने युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के साथ अनेक प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्य किए हैं—कपट-छल का आश्रय लेकर अनेक

बार पाण्डवों की जीवन-लीला को समाप्त करने के कुचक्र रचे, द्यूतक्रीडा के छल से उनके राज्य का अपहरण करके उन्हें राज्यभ्रष्ट किया, भरी सभा में द्रौपदी का चीर-हरण किया, द्रौपदी सहित उन्हें वनवासी बना दिया और इधर युधिष्ठिर हैं जो सभी अपमानों को सहे जा रहे हैं। उनके धैर्य का अन्त होता दिखलाई नहीं पड़ रहा है। धैर्य की भी कोई सीमा होती है। इस प्रकार सभी अपमानों को सह लेना और कोई प्रतीकार न करना कोई अच्छी बात नहीं है। अन्याय करना जितना बुरा है उतना ही बुरा है अन्याय को सहन करना। जो लोग निर्बल हैं और जिन्हें अपनी प्रतिष्ठा का कोई ध्यान नहीं है वे इस प्रकार के अपमानों को सहकर चुप रहें तो कोई विशेष बात नहीं है किन्तु युधिष्ठिर जैसे तेजस्वी और यश को ही सब कुछ मानने वाले महापुरुष भी इस प्रकार के अपमानों को यदि चुपचाप सहन करेंगे तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि स्वाभिमान नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। द्रौपदी के कथन का अभिप्राय यह है कि स्वाभिमान और सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को शत्रुओं का विनाश करके अपने राज्य को प्राप्त करना चाहिए और यह पराक्रम के द्वारा ही सम्भव है। (२) युधिष्ठिर को प्रतीकार के लिए प्रेरित करने के लिए द्रौपदी ने जो तर्क दिये हैं वे अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। द्रौपदी की वाक्पटुता अत्यन्त प्रशंसनीय है।

घण्टापथ—पुर इति। किं च धामवतां तेजस्विनाम्। परनिकारासहिष्णुनामित्यर्थः। पुरः सरन्तीति पुरःसराः अग्रेसराः। 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः। यशोधना भवादृशाः। सुदुःसहं अतिदुःसहं ईदृशं उक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषं अधिकुर्वते स्वीकुर्वते चेत्तर्हि। हन्त इति खेदे। मनस्विताभिमानिता निराश्रया सती हता। तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः। अतः पराक्रमितव्यमिति भावः। यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात् करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति। 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका। तथाप्यस्याकर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञित्'—इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥४३॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अ०—अथ निरस्तविक्रमः चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनम् पर्येषि (तर्हि) लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि।

श०—अथ = यदि। निरस्तविक्रमः = पराक्रम का परित्याग कर देने वाले, उत्साहरहित होकर। चिराय = चिरकाल के लिए, सदा के लिए। क्षमाम् एव = क्षमा को ही, शान्ति को ही। सुखस्य साधनम् = सुख (आनन्द, कल्याण) का साधन (उपाय)। पर्येषि = मानते हो, समझते हो। (तर्हि = तो)। लक्ष्मीपतिलक्ष्म = राजा (लक्ष्मीपति = राज्यलक्ष्मी के पति) के चिह्न (लक्षण, लक्ष्म), राजचिह्न। कार्मुकं = धनुष को। विहाय = त्यागकर, छोड़कर, परित्याग करके। जटाधरः सन् = जटाधारी होकर, सिर पर जटाओं को धारण करके। इह = यहाँ, द्वैत नामक वन में। पावकं जुहुधि = अग्नि को हवनीय द्रव्य से तृप्त कीजिए, अग्नि में हवन करो।

अनु०—यदि पराक्रम का परित्याग करके चिरकाल के लिए आप क्षमा (शान्ति) को ही सुख (कल्याण) का साधन मानते हैं तो राजा (राज्यलक्ष्मी के पति) के चिह्न धनुष को छोड़कर एवं सिर पर जटाओं को धारण करके यहाँ (इस द्वैत नामक वन में) अग्नि में हवन कीजिए।

स० व्या०—शान्तिमार्गमाक्षिपन्ती द्रौपदी व्यङ्ग्यरूपेण युधिष्ठिरं प्रतीकाराय प्रेरयति। हे राजन्! यदि पराक्रमं परित्यज्य त्वं चिरकालपर्यन्तं शान्तिमेव कल्याणस्य साधनमवगच्छसि तर्हि राजचिह्नेनानेन धनुषा किं प्रयोजनम्। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः। अतः राजचिह्नमेतत् धनुः परित्यज्य शिरसि जटां धारयन् च अस्मिन्नेव वने मुनिर्भूत्वा अग्नौ हवनं कुरु। मुनिवत् यदि जीवनं यापनीयं तदा धनुषः परित्यागः एवोचितः, न तु तस्य धारणम्। 'मुञ्च धनुः' इति रूपेण धनुर्धारणं प्रेरयति द्रौपदी अस्मिन् श्लोके।

स०—निरस्तः विक्रमः येन सः निरस्तविक्रमः (बहु०)। लक्ष्म्याः पतिः लक्ष्मीपतिः (षष्ठी तत्पु०), लक्ष्मीपतेः लक्ष्म लक्ष्मीपतिलक्ष्म (षष्ठी तत्पु०)। जटायाः धरः जटाधरः (षष्ठी तत्पु०)।

व्या०—साध्यते अनेन इति साधनम्—साध् + ल्युट्। पर्येषि—परि + इ + लट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। विहाय—वि + हा + क्त्वा—ल्यप्। जुहुधि—हु + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) अनेक प्रकार के अपमानों को सहकर भी जब प्रतीकार के हेतु शत्रु पर हथियार उठाना ही नहीं, जब शान्तिपूर्ण जीवन ही बिताना है तब धनुष धारण करने की आवश्यकता ही क्या है। अतः धनुष का परित्याग करके अग्नि में हवन करते हुए तपोवन में रहना उचित है। वस्तुतः 'धनुष का परित्याग करो' यह कहकर द्रौपदी व्यङ्ग्यपूर्वक युधिष्ठिर को शत्रु के विनाश के लिए धनुष-धारण करने के लिए प्रेरित कर रही है। (२) द्रौपदी की वाक्पटुता की जितनी भी प्रशंसा की जाये वह थोड़ी ही है (३) छेकानुप्रास।

घण्टापथ—अथेति। अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। सुखस्य साधनं पर्य्येषि अवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय। धरतीति धरः। पचाद्यच्। जटानां धरो जटाधरः सन् इह वने पावकं जुहुधि। पावके होमं कुर्वित्यर्थः। अधिकरणे कर्मत्वोपचारः। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः। 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ॥ ४४ ॥

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

अ०—परेषु निकृतिपरेषु (सत्सु) भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणं न क्षमम्। हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विदधति।

श०—परेषु निकृतिपरेषु (सत्सु) = शत्रुओं (= दुर्योधन इत्यादि कौरवों) के (तुम्हारे) अपकार (निकृति) में लगे रहने पर। भूरिधाम्नः= अत्यन्त तेजस्वी (प्रभूत पराक्रम वाले, शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ)।

ते = तुम्हारा, आपका। समयपरिरक्षणं = (तेरह वर्ष वन में रहने की) प्रतिज्ञा (सन्धि, समय) का पालन करना। न क्षमम् = युक्त (उचित) नहीं है। हि = क्योंकि। विजयार्थिनः = विजय की इच्छा (कामना) करने वाले। क्षितीशाः = भूपति, राजा लोग। अरिषु = शत्रुओं पर। सोपधि = कपट से, छल से, बहाने से। सन्धिदूषणानि = संधिविच्छेदों को, पूर्व में की गई सन्धियों में दोषों को। विदधति = करते हैं, उत्पन्न करते हैं।

अनु०—शत्रुओं (= दुर्योधन इत्यादि कौरवों) के (तुम्हारे) अपकार में तत्पर रहने पर (अर्थात् जब शत्रु अपकार करने में लगे हुए हैं तब) अत्यन्त तेजस्वी होते हुए तुम्हारा ('तेरह वर्ष वन में रहूँगा' इस) प्रतिज्ञा का पालन करना युक्त नहीं है। विजय की अभिलाषा करने वाले राजा लोग शत्रुओं के साथ की गई सन्धियों में छलपूर्वक दोष उत्पन्न कर देते हैं (अपने अनुकूल समय आते ही शत्रुओं पर दोष लगाकर सन्धि को भङ्ग कर देते हैं)।

सं० व्या०—'पुनः राज्यप्राप्त्यर्थं प्रतिज्ञामनादृत्य भवता प्रतीकारः करणीयः' इतिरूपेण युधिष्ठिरं प्रेरयति द्रौपदी। हे राजन्! यदा दुर्योधनादयः शत्रवः निरन्तरमपकारतत्पराः वर्तन्ते तदा महाशक्तिशालिनः प्रतीकारक्षमस्य भवतः त्रयोदशसंवत्सरान् वने वत्स्यामीत्येवंरूपायाः प्रतिज्ञायाः पालनं न युक्तम्। यतो हि विजयाभिलाषिणो राजानः केनचिद्व्याजेन दोषमापाद्य सन्धिं दूषयन्ति। शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानम् अन्यत् समयरक्षणादिकम् अशक्तस्येति भावः। अत एव भवत्सदृशानां सबलानां कृते प्रतिज्ञापालनं न शोभनं न च कल्याणकरं वर्तते।

स०—निकृतिः (शाठ्यं) परं (प्रधानं) येषु तेषु निकृतिपरेषु (बहु०)। भूरि धाम यस्य सः भूरिधामा तस्य भूरिधाम्नः (बहु०)। समयस्य परिरक्षणं समयपरिरक्षणम् (षष्ठी तत्पु०)। विजयम् अर्थयन्ते ये ते विजयार्थिनः (उपपद समास)। क्षितेः ईशाः क्षितीशाः (षष्ठी तत्पु०)। उपधिना (कपटेन) सह इति सोपधि (बहु०)। सन्धेः दूषणानि सन्धिदूषणानि (षष्ठी तत्पु०)।

व्या०—सोपधि—विदधति का क्रियाविशेषण है—उप + धा + कि। विदधति—वि + धा + लट्, अन्यपुरुष, बहुवचन।

टि०—(१) युधिष्ठिर धर्मराज हैं, सत्यवादी हैं। उन्होंने कौरवों के साथ यह संधि की थी कि वे पत्नी और भाइयों के सहित तेरह वर्ष वन में निवास करेंगे। किसी भी परिस्थिति में वे अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करना चाहते। इस तथ्य को जानती हुई द्रौपदी कह रही है कि राजनीति में ये बातें महत्त्व नहीं रखती हैं। शत्रु निरन्तर अपकार करने में लगे हुए हैं। अतः उसके साथ कपट करना अयुक्त नहीं है। 'शठे शाठ्यं चरेत्' नीति का पालन करना युक्त है। प्रयोजन की सिद्धि पराक्रमी व्यक्तियों का लक्ष्य होता है। निर्बल और असमर्थ व्यक्ति ही प्रतिज्ञा का पालन करते हैं। अतः प्रतिज्ञा का ध्यान न करके राज्य-प्राप्ति के लिए आपको प्रतीकार अवश्य ही करना चाहिए। (२) महाकवि भारवि की राजनीतिविषयक कुशलता का परिचय प्रस्तुत श्लोक से होता है। प्रस्तुत तथ्य का सर्वोत्तम उदाहरण पाकिस्तान है। युद्ध में पराजित होने पर शक्तिहीन पाकिस्तान सन्धि करने में तनिक भी नहीं हिचकता। किन्तु जब उसे विदेशों से आधुनिक शस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है तब अपने लिए अनुकूल समय जानकर वह भारत के ऊपर कोई न कोई दोषारोपण करके सन्धि को भङ्ग कर देता है और भारत के ऊपर धावा बोल देता है। (३) अर्थान्तरन्यास तथा यमक अलंकार। (४) सर्ग के अन्तिम दो या तीन पद्य भिन्न छन्द या छन्दों में रखे जाने चाहिए—इस नियम के निर्वाह के लिए यहाँ पुष्पिताग्रा छन्द है। इसका लक्षण यह है— अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा। इससे ज्ञात होता है कि इसके विषम (प्रथम और तृतीय) चरणों में दो नगण, एक रगण, और एक यगण होता है तथा सम (द्वितीय और चतुर्थ) चरणों में एक नगण, दो जगण, एक गुरु होता है।

घण्टापथ—नेति। परेषु शत्रुषु निकृतिपरेषु निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु तथोक्तेषु अपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसंवत्सरान् वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित्। 'समयाः शपथाचार-

कालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। तस्य परिरक्षणम् प्रतीक्षणं न क्षमम् न युक्तम्। युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। हि यस्मात् विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशाः अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। सन्धिदूषणानि विदधति। केनचिद्व्याजेन दोषमापाद्य सन्धिं दूषयन्ति। विघटयन्तीत्यर्थः। शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥४५॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४६॥

अ०—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुं रिपुतिमिरम् उदस्य दिनादौ उदीयमानं दिनकृतम् इव (विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्म शिथिलवसुं रिपुतिमिरम् उदस्य दिनादौ उदीयमानं) त्वां लक्ष्मीः पुनः समभ्येतु।

श०—(सूर्य-पक्ष में) विधिसमयनियोगात् = विधाता और समय के नियम के अनुसार। अगाधे = गहरे, अथाह, दुस्तर। आपत्पयोधौ = विपत्ति रूप समुद्र में, विपत्तिबहुल पश्चिमी समुद्र में। मग्नं = डूबे हुए। दीप्तिसंहारजिह्मं = प्रकाश के नष्ट हो जाने से मलिन (आभारहित)। शिथिलवसुं = शिथिल (संकुचित) हो गई हैं किरणें (वसु) जिसकी ऐसे, शिथिल हुई किरणों वाले। रिपुतिमिरम् = शत्रु रूप अन्धकार को। उदस्य = हटाकर, दूर करके। दिनादौ = दिन के आदि (प्रारम्भ) में, प्रातःकाल। उदीयमानं = उदय (उदित) होते हुए, उदय को प्राप्त होते हुए। दिनकृतम् इव = दिनकर (सूर्य) की तरह। (युधिष्ठिर-पक्ष में) विधिसमयनियोगात् = भाग्य और समय के नियम के अनुसार। अगाधे = गह- आपत्पयोधौ = आपत्ति के समुद्र में, समुद्र की भाँति गम्भीर आ-

मग्नं = पड़े हुए, डूबे हुए । **दीप्तिसंहारजिह्मं** = प्रताप (प्रभाव, पराक्रम) के विनाश होने से मलिन (दुःखित, अप्रसन्न) । **शिथिलवसुं** = नष्ट हुए धन वाले, धनहीन, निर्धन, शिथिल (कम, विनष्ट) हो गया है धन (वसु) जिसका ऐसे । **रिपुतिमिरम्** =अन्धकार के समान भीषण शत्रुओं को । **उदस्य** = नष्ट करके । **दिनादौ** = शुभ समय आने पर । **उदीयमानं** = अभ्युदय (उन्नति) को प्राप्त करते हुए । **त्वां** = तुमको, आप (युधिष्ठिर) को । **लक्ष्मीः** = राज्यलक्ष्मी, सम्पत्ति, दिवस–शोभा । **पुनः** = फिर । **समभ्येतु**= प्राप्त होवे, प्राप्त करे ।

अनु०—विधाता और समय के अनुसार अत्यधिक गहरे विपत्तिरूप पश्चिमी समुद्र में डूबे (गिरे) हुए, प्रकाश के विनष्ट हो जाने के कारण शिथिल (संकुचित) हुई किरणों वाले, शत्रुरूप अन्धकार को हटाकर (दूर करके) प्रभातकाल में उदित होते हुए सूर्य की तरह भाग्य और समय के नियम के कारण अपार विपत्ति–सागर (विपत्ति के समुद्र) में पड़े (डूबे) हुए, प्रताप (प्रभाव) के विनष्ट होने से दुःखित (अप्रसन्न), धनहीन (विनष्ट हुए धन वाले), अन्धकार के सदृश भीषण शत्रु–समूह को नष्ट करके शुभ समय के आ जाने पर अभ्युदय (उन्नति) को प्राप्त करते हुए आप (युधिष्ठिर) को राज्यलक्ष्मी पुनः प्राप्त करे ।

सं० व्या०—प्रथमसर्गस्य अन्तिमेऽस्मिन् श्लोके द्रौपदी युधिष्ठिरस्य समृद्ध्यर्थं मङ्गलं कामयते । सा कथयति—विधिनिर्मितनियमवशात् सायंकाले अगाधे विपत्तिस्वरूपे पश्चिमे समुद्रे निमग्नं, रश्मिसंकोचेन प्रकाशहीनं, शत्रुभूतमन्धकारं दूरीकृत्य अन्येद्युः प्रातःकाले उद्यन्तं दिनकरं यथा दिवसशोभा (दिवसलक्ष्मीः) पुनरलंकरोति तथैव भाग्यवैपरीत्यात् कालप्रभावाच्च गम्भीरे विपत्समुद्रे निमज्जमानं, धनहीनं, शत्रून् विनाश्य पुनरात्मनः राज्यप्राप्त्यर्थमुद्योगं कुर्वन्तं च त्वां युधिष्ठिरमपि राज्यलक्ष्मीः पुनः समाश्रयतु ।

स०—विधिश्च समयश्च इति विधिसमयौ (द्वन्द्व), तयोः नियोगः इति विधिसमयनियोगः, तस्मात् (षष्ठी तत्पु०) । न गाधः अगाधः तस्मिन् (नञ् समास) । आपत् पयोधिः इव इति आपत्पयोधिः तस्मिन् (उपमित

। दीप्तेः संहारः इति दीप्तिसंहारः (षष्ठी तत्पु०), तेन जिह्मः इति दीप्तिसंहारजिह्मः, तम् (तृतीया तत्पु०)। शिथिलवसुम्—(सूर्यपक्षे) शिथिलाः वसवः (रश्मयः) यस्य सः शिथिलवसुः, तम् (बहु०); (युधिष्ठिरपक्षे) शिथिलं वसु (धनं) यस्य सः शिथिलवसुः, तम् (बहु०)। रिपुः तिमिरम् इव इति रिपुतिमिरम् (उपमित कर्मधारय)। दिनस्य आदिः दिनादिः तस्मिन् (षष्ठी तत्पु०)। दिनं करोतीति दिनकृत् तम् (उपपद समास)।

व्या०—'विधिसमयनियोगात्' में हेतौ पञ्चमी। उदस्य—उत् + अस् + क्त्वा—ल्यप्। उदीयमानं—उत् + ई + शानच्। समभ्येतु—सम् + अभि + इ + लोट्, अन्यपुरुष, एकवचन।

टि०—(१) महाकवि भारवि ने सर्ग के प्रथम श्लोक में मङ्गलवाचक 'श्री' (श्रियः) शब्द का और सर्ग के अन्तिम श्लोक में मंगलवाचक 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। (२) अपने भाषण का उपसंहार करती हुई द्रौपदी ने इस अन्तिम श्लोक में युधिष्ठिर के प्रति अपनी शुभ कामनायें व्यक्त की हैं (३) श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलंकार। यहाँ 'त्वाम्' (युधिष्ठिर) उपमेय, 'दिनकृतम्' (सूर्य) उपमान, 'इव' उपमावाचक और दीप्तिसंहार, वसु का शिथिल होना, विपत्तिसमुद्र में डूबना, पुनः उदित होना इत्यादि युधिष्ठिर और सूर्य दोनों के साधारण धर्म हैं। श्लिष्ट पदों के प्रयोग के कारण अर्थ युधिष्ठिर और सूर्य दोनों पर लगता है। (४) सर्ग के अन्तिम दो या तीन पद्य भिन्न छन्द या छन्दों में रचे जाने चाहिए—इस नियम के निर्वाह के लिए यहाँ मालिनी छन्द है। इसका लक्षण यह है—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। इससे ज्ञात होता है कि इसमें दो नगण, एक मगण और दो यगण होते हैं। इसके चारों चरण सम (१५-१५ अक्षरों के) होते हैं।

घण्टापथ—विधीति। 'विधिर्दैवम्। विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः कालस्तयोर्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयोधिरिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम्। सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जतीत्यागमः। दीप्तिः प्रतापः आतपश्च। तस्य संहारेण जिह्मम् अप्रसन्नम्।

शिथिलवसुं शिथिलधनमन्यत्र शिथिलरश्मिम्। 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। 'शिथिलबलमिति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः। रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरम्। उदस्य निरस्य। उदीयमानम् उद्यन्तम्। 'ईङ् गतौ इति धातोर्दैवादिकात् कर्तरि शानच्। त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु भजतु। 'आशीषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत् पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। पूर्णोपमेयम्। मालिनीवृत्तम्। सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः। यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्' इति।

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। भारविकृताविति कविनामकथनम्। महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता। किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम्। प्रथमः सर्गः समाप्त इति शेषः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतोऽयं ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। तथा ह्यर्जुन एवात्र नायकः, किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यथाह दण्डी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' इति। अथायं सङ्ग्रहः—'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः। शृंगारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्' इति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः।